३०५
सामाजिक निबंध

नये युग की नारी

लेखक
मोहनसिंह सेंगर

प्रकाशक
किताब महल • इलाहाबाद

प्रथम संस्करण : १९४७

मुद्रक—जे० के० शर्मा, इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद
प्रकाशक—किताब महल, इलाहाबाद

बहन सावित्री को

अपनी बात

नर और नारी का भेद शारीरिक ही नही, मानसिक अथवा मनोवैज्ञानिक भी है। किन्तु इस भेद की समग्रता की तह मे ही दोनो की मौलिक एकता का प्रकृत रहस्य भी छिपा है। उसीसे प्रेरित नर और नारी ने एक-दूसरे का पूरक बन कर एक ऐसी अक्षुण्ण इकाई को जन्म दिया है, जो घर, परिवार, समाज और सृष्टि का मूलाधार है। यही इकाई विश्व-मानवता के भविष्य—मानव-सभ्यता और सस्कृति के विकास-चक्र—की धुरी अथवा केन्द्र-विन्दु है। मानव-समाज का सुख, समृद्धि और अभ्युदय वहुत-कुछ इसी इकाई की शक्ति, दृढता, स्वाभाविकता एव सद्भाव-पूर्णता पर निर्भर करते है। अस्तु—

सुकरात के शब्दो मे नर और नारी इस इकाई के दो अर्द्धांश है, जिन्हे जोडने-वाली शक्ति है प्रेम। पर दुर्भाग्यवश आज ससार के अधिकाश भागो मे नर और नारी का पारस्परिक पूरक-सम्बन्ध अपनी यह स्वाभाविकता कायम नही रख सका है। सृष्टि के उष काल में जो नर और नारी दो स्वतत्र, उन्मुक्त, स्वपथगामी एव स्वच्छन्द झरनो के रूप मे एक हो कर सृष्टि की धारा वनते थे, आज मानो उन्हे दो अलग-अलग टवो मे भर कर एक नाली में बहा दिया जाता है। यही आज के समाज का क्रम है। वे कब किससे मिले और सयुक्त धारा वन कर किस दिशा मे बहे, इसके निर्णय मे उनका कोई हाथ नही। उनके जीवन, जीवन-साथी और जीवन के पथ एव दिशा का निर्णय माता-पिता अथवा सरक्षक ही करते है। जो जितनी नम्रता, निर्विरोध एव मूकता के साथ इस निर्णय के आगे नतशिर होकर निर्द्धारित दिशा मे चल पडते है, वे उतने ही वडे समझदार, आज्ञाकारी, आदर्शवादी और सद्गुणी समझे जाते है। जहाँ आदर्श के नाम पर मान-

सिक दासता ने हमारे जीने के अधिकार और स्वातन्त्र्य पर इतना बडा ताला लगा दिया हो, वहाँ अनीति एवं अनाचार के सिवा और पनप ही क्या सकता है ?

जब नर का सभ्यता से साक्षात्कार नही हुआ था, जब वह संस्कृति की अपेक्षा पशुता के ही अधिक निकट था, नारी के साथ उसका सम्बन्ध—पशुओ ही की भाँति—शारीरिक-भर था। प्रकृति ने नारी की देह को नर से कोमल और कम बलवान बनाया है, अत. सहज ही वह उस पर पशु-बल से विजय प्राप्त करने मे सफल हुआ। उसे ज्ञात हुआ कि वह नारी से अधिक वलवान है, अत उसका चाहे जैसे उपयोग-दुरुपयोग कर सकता है। नारी के मन मे भी पशु-बल की यह भ्रान्ति विश्वास वन कर जम गई कि वह नर से दुर्बल है, अत उसे उसकी इच्छा का आदर करना चाहिए। जैसे-जैसे मानव-समाज सभ्यता की ओर पग बढाता गया, पुरुष-निर्मित व्यवस्था की आधार-शिला ही मानो यह बन गई · पुरुष नारी से बलिष्ट एव स्वतन्त्र है, और नारी नर से दुर्बल एव उसपर निर्भर करनेवाली। इस प्रकार नारी नर की दासी और फिर सही मानो मे उसके पॉव की जूती बन गई। उसकी आँखो मे नारी-देह से आगे और कुछ देखने की जैसे क्षमता ही नही रही। नारी भी परिस्थितिवश अपना 'स्व' और स्वतन्त्र अस्तित्व भूल-सा गई।

युग-परिवर्तन के साथ नारी की गुलामी के बाह्य रूपो मे भी गौण परिवर्तन हुए। सृष्टि की धात्री, घर की लक्ष्मी, देवी, माता आदि के नामो से वह पूजनीया बनाई गई, पर उसके पॉव की वेड़ी नही खोली गई। दासता की इस वन्दना को अपना गौरव समझ नारी अपने पॉवो की बेडियो का भान भूल गई और अपने-आपको कैद करनेवाले नर-पिशाच मे उसने देवता अथवा परमेश्वर नाम के अर्थ और अस्तित्व-हीन व्यक्तित्व की कल्पना की। इससे नारी का मन और शरीर जरूर खो-सा गया, पर उसकी आत्मा गहरी नीद मे सोई या खोई नही। वलात्कार और अनाचार

की ठोकरो से आहत उसके 'स्व' ने एक दिन उसके विवेक को जगाया और नारी ने जहर तथा अग्नि द्वारा और बाद मे बुद्धि-बल से नर के अधिकार की अनधिकारपूर्णता के खिलाफ विद्रोह किया। अनेक स्थानो मे आज यह विद्रोह सामाजिक अथवा कानूनी जामा पहन चुका है और तेजी से नारी की खोई हुई स्वाधीनता एव समानता को पुन प्राप्त करने की दिशा मे अग्रसर है—यद्यपि इसकी प्रगति अभी बिल्कुल सामान्य एव धीमी है।

मानव-इतिहास मे नारी की दासता गुलामी का निकृष्ट उदाहरण है। रूसी क्रान्ति के पिता लेनिन ने इस गुलामी के विरुद्ध सबसे पहला सक्रिय कदम उठाया। उन्होने ललकारा कि जब तक आधी मानवता घरो मे कैद है, उसकी उन्नति सभव नही। रूसी नारियो की मुक्ति ने मानो नारीत्व की परिभाषा ही बदल दी और विश्व के अन्यान्य भागो मे नारी-स्वातन्त्र्य-आन्दोलनो को प्रेरणा एव प्रोत्साहन दिया। वैज्ञानिको ने नर और नारी के शारीरिक एवं मानसिक वैषम्य की भ्रान्ति को निरर्थक एव खोखला सिद्ध किया। फलत सामाजिक, राजनीतिक, अर्थनीतिक, साहित्यिक, वैज्ञानिक आदि क्षेत्रो मे नारी ने नर के समान ही कौशल दिखाना आरभ किया। यद्यपि अन्यान्य देशो मे रूसी नारियो की इस समानता एव स्वतन्त्रता की काफी अनुकूल प्रतिक्रिया हुई, तथापि नारी-स्वातन्त्र्य के शत्रुओ ने रूसी महिलाओ की स्वतन्त्रता के दुरुपयोग के मिथ्या एव घिनौने विवरणो को प्रचारित कर अपने-अपने देशो मे नारी की दासता को आदर्श, सच्चरित्रता, धर्म, परिवार और समाज की अक्षुण्णता के नाम पर कायम रखने की धृष्ट चेष्टाएँ भी की। अनेक देशो मे तो जीर्ण दासता-ग्रस्त नारी स्वय भी रूसी महिलाओ के स्वातन्त्र्य-स्वाच्छन्द्य को देख कर सशक हो उठी। पर नारी-स्वातन्त्र्य का आन्दोलन इन सब भ्रान्तियो तथा विघ्न-बाधाओ के बावजूद आगे बढता गया। ब्रिटेन मे पहले महायद्ध के बाद स्त्रियो को मताधिकार प्राप्त हुआ, जब कि क्रान्ति के जनक फ्रास की

स्त्रियो को अभी दूसरे महायुद्ध के बाद मताधिकार प्राप्त हुआ है ! पर यूरोप के अनेक देशो की स्त्रियो को आज भी नागरिकता का यह प्राथमिक राजनीतिक अधिकार तक प्राप्त नही है ! फिर भी सामाजिक और अर्थ-नीतिक दृष्टि से आज वे वैसी गुलाम कदापि नही है, जैसी कि अरब, एशिया, अफ्रीका आदि की महिलाएँ है ।

संसार के विभिन्न देशो के नारी-आन्दोलनों का विहगम सिंहावलोकन करने के बाद जब हमारी आँखे अपने देश की ओर आकर रुकती है, तो लज्जा और निराशा से सिर झुक जाता है । कहने के लिए यहाँ की स्त्रियो को नाम-मात्र के लिए मताधिकार प्राप्त है, पर विवाह-विच्छेद अथवा पैतृक सम्पत्ति का अधिकार उन्हे आज भी नही है । मनु महाराज की कृपा से जन्म से मृत्यु तक पुरुष की अधीनता ही उसका सबसे बड़ा धर्म और आदर्श है ! इतने बडे अन्याय और अधर्म पर आधारित है तथा-कथित हिन्दू-कानून ! जो भारतीय बहनें निरक्षर है और ग्रामो की मध्य-युगीन परिस्थितियो मे जन्मती-पलती है, उनका इस पाशविक दासता से ऊपर न उठ सकना तो समझ मे आता है । पर जो बहनें शहरो मे रहकर नई तालीम हासिल करती है और वैज्ञानिक युग की सभी आधुनिक न्यामतो से लाभ उठाने की सुविधा जिन्हे प्राप्त है, उन्हे जब हम अपनी दासता पर 'नारीत्व के आदर्श' और 'मातृत्व के गौरव' के भ्रान्तिपूर्ण नामो से गर्व करते देखते है, तो आश्चर्य के साथ खेद भी होता है । इनमे से कुछ ने यद्यपि नए जमाने की हवा मे तितली बन कर अपनी पाश्चात्य बहनो से भी आगे और ऊँचा उडने की चेष्टा की है, पर मानसिक गुलामी और तज्जनित दुर्बलता से मुक्त वे भी नही हो सकी है । उनकी वह शिक्षा, जिसने इस तरह की भावनाओ को जन्म दिया है, न सिर्फ अधूरी ही है, बल्कि नारी के अनुपयुक्त भी । कदाचित् इसीलिए हमारे देश का नारीत्व अपने अस्तित्व एवं स्वातन्त्र्य के महत्व को भूला हुआ-सा है । जिन्होने सामाजिक स्वातन्त्र्य की अथवा अर्थनीतिक स्वावलम्बन की ओर कदम बढाया भी,

उन्हे कुछ ऐसे अप्रिय एव अप्रत्याशित अनुभव हुए कि उन्हे भी प्राचीन आदर्शों (?) का ही कायल होना पडा ।

हम यह नही कहते कि जो पुराने आदर्श है, वे सब बेकार और घातक है। पर यह सिद्ध करना अनावश्यक होगा कि हजारो वर्ष पहले के ये आदर्श आज के समाज और उसकी आवश्यकताओ के लिए उसी रूप मे उपयुक्त नही रहे है। प्राचीन आदर्शों के अनावश्यक मोह और उनके मिथ्याभिमान से मुक्त हुए बिना हमारा उद्धार सभव नही। आज का युग नारी को देवी कह कर आदर्श, धर्म, परिवार या समाज के नाम पर सोने-चाँदी की जजीरो से जकड रखना कदापि सहन नही कर सकता। नर और नारी के शारीरिक वैषम्य को आधार बना कर आज किसी को किसी से श्रेष्ठतर सिद्ध करने की चेष्टा करना हास्यास्पद है। आज का युग विज्ञान का युग है। यन्त्रो ने मानव के शरीर-बल को बहुत-कुछ गौण बना दिया है। इस युग मे बहुत कम काम ऐसे है, जिन्हे पुरुष कर सकता हो और स्त्री नही। आज जीवन के लगभग सभी क्षेत्रो मे नारी समान रूप से नर के साथ कदम मिला कर आगे बढ रही है। जीवन-सग्राम मे यदि भारतीय नारी को जान-बूझ कर पिछडना नही है, उसे नर के अधीन हो कर नही रहना है, यदि उसको केवल नर के मनोरजन का खिलौना और उसके बच्चो की माता ही नही बनना है, तो उसे अपने अस्तित्व, स्वातन्त्र्य, स्वावलम्बन आदि के महत्व को ठीक-ठीक समझना एव उसी के अनुरूप अपना जीवन बनाना होगा।

इसी दृष्टिकोण से लिपिबद्ध किए गए अपने कुछ स्फुट विचारो का यह सग्रह आज लेखक सर्वसाधारण के सामने रखने का साहस कर रहा है। कोई उपदेष्टा, प्रचारक या विशेषज्ञ वह नही और न ही उसका यह दावा है कि वह नारी-स्वातन्त्र्य एव स्वावलम्बन की कोई योजना पेश कर रहा है। उसने जो-कुछ देखा, सुना, सोचा, समझा, उसीको स्फुट लेखो के रूप मे अपने देश की बहनो के विचारार्थ रखा है। विभिन्न अवसरो पर

लिखे जाने के कारण इनमे कही-कही कुछ विरोधाभास अथवा असामजस्य-सा भी झलकता है। इसका एक कारण यह है कि लेखक जहाँ प्राचीनता का कटु आलोचक है, वहाँ वह मोजूदा आधुनिकता का १०० फीसदी समर्थक भी नही। प्राचीन आदर्शो एव अर्वाचीन जीवन की आवश्यकताओ का एक विवेकपूर्ण समन्वय ही उसका मूलोद्देश्य है। उसकी एकमात्र कामना यही है कि आज की भारतीय नारी अपने बारे मे—अपनी स्थिति, अधिकार, स्वतत्रता, भविष्य आदि के बारे मे—स्वय सोचे और अपने लिए स्वय निर्णय करे एव उस पर अमल करे। ऐसा सोचने के लिए यदि यह संग्रह उसे कुछ भी सुझाव या प्रेरणा दे सका, तो लेखक अपना परिश्रम सार्थक समझेगा।

'विशाल भारत' कार्यालय
कलकत्ता १ जनवरी, १९४७

मो० सि० सेंगर

विषय-सूची

नई संस्कृति और नारी

जिस समय आदमी युवावस्था की चरम-सीमा पर पहुँच कर, जरा-जीर्ण हो, एक दिन अपनी इह-लीला समाप्त कर देता है, उसी प्रकार समय का एक हिस्सा भी—जिसे युग कहा जाता है—अपनी उपयोगिता की चरम-सीमा पर पहुँच कर एक दिन खत्म हो जाता है और उसका स्थान एक अधिक उपयोगी नया युग ले लेता है। जिस प्रकार एक या कुछ आदमियो के मरने से ससार सूना नही हो जाता, ठीक उसी प्रकार समय के किसी खास हिस्से—युग-विशेष—के खत्म हो जाने से यह नही समझना चाहिए कि अब मानवता का भविष्य निविड अन्धकारमय है, अथवा जो नया युग आरम्भ हो रहा है, वह ससार के लिए पिछले युग से कम कल्याणकारी होगा। एक आदमी जब मर जाता है, तो उसके घरवालो के लिए रोना-धोना एक अन्ध-परम्परा-सी वन गई है। पर उसके घरवालो से कोई पूछे कि सदा-सर्वदा वह जीवित कैसे रह सकता था ? फूल खिलने के वाद एक-न-एक दिन तो मुर्झायगा ही—चाहे वह कितना ही सुन्दर और सुगन्धि देनेवाला क्यो न हो। जीव नामधारी जितने भी प्राणी है, वे अपने भौतिक विकास की चरम-सीमा पर पहुँचने के बाद मुर्झा कर एक दिन अवश्य खत्म होगे—यही उनके विकास और अस्तित्व की स्वाभाविक क्रिया और प्रतिक्रिया है। जीवन और मरण उनके विकास के दो छोर है। उत्पत्ति मे समाप्ति के और समाप्ति में नई उत्पत्ति के बीज निहित है। जीव के विकास का यह चक्र एक भौतिक क्रिया-मात्र है, इससे अधिक कुछ नही। इसे जीव या आत्माके आवागमन के साथ नत्थी करना ठीक न होगा।

इस विकास का कोई निश्चित माप-दण्ड नही है। मोटे रूप में हम 'युग' और 'कल्प' को पेश कर सकते है—किन्तु उनकी अवधि सदा एक-सी

और निश्चित रही है, यह कदाचित् विवादास्पद है। जीव के विकास का यह माप-दण्ड भी परिस्थितियो के साथ बदलता और छोटा-बडा होता रहा है। जीव के विकास की धारा ने जब कभी सहसा पलटा खाया है, तो उसके साथ समय का यह माप-दण्ड या 'युग' भी बदला है। चूंकि मानवी-विकास की गति-विधि सदा एक-सी नही रही है, अत 'युग' की आयु और उसकी छाप भी विभिन्नता एव विषमता लिए हुए रही है। कभी 'युग' शताब्दियो मे बदले है, तो कभी वर्षो, महीनो और दिनो तक मे। हमारे विकास की धारा आज तो उस बौद्धिक धरातल पर से गुजर रही है, जहाँ क्षण-क्षण मे उसका रूप और प्रवाह, दिशा और वेग, बदल रहा है अथवा कहना चाहिए कि बदल सकता है। प्रारम्भिक विकास की अवस्था को हम पार कर चुके है। अब विकास की जिस सीढी पर हम चढना चाहते है, उसमे और पहली सीढी मे यद्यपि अन्तर बहुत नही है, तथापि बौद्धिक सङ्घर्ष इतना प्रबल और तीव्र है कि पथभ्रष्ट होने की सम्भावना अधिक से अधिकतर होती चली जा रही है। पर इस खतरे से डरने के बजाय सावधान होने की विशेष आवश्यकता है।

प्राचीनता का मोह

यह जानते हुए भी कि जो आदमी मर गया है, वह अब जीवित नही हो सकता, हम उसके शव के चारो ओर बैठ कर जोर-जोर से रोते है और आग मे फूंक कर उसके हाड-मास के शरीर को राख करके भी स्मृति-पट पर या कागज और स्याही के सहारे उसे 'जीवित' रखने का यत्न करते है। ठीक इसी प्रकार हम एक बीतनेवाले 'युग' का मोह भी आसानी से नही छोड़ पाते। जिन्होने कम-से-कम परिश्रम करके अधिक-से-अधिक आराम या लाभ उठाया है, वे भला विषमता या शोषण के युग का खात्मा कैसे बर्दाश्त करेंगे? किसी भी तर्क या दलील से उन्हे इस बात का विश्वास नही दिलाया जा सकता कि जो युग अपनी उपयोगिता खो चुका है, अपने

चरम-विकास को पहुँच चुका है, वह तो खत्म होगा ही—किसी व्यक्ति, समाज या देश-विशेष के द्वारा नही, अपने-आप। कोई मानवी शक्ति, प्रतिगामिता, षड्यन्त्र और गुटबन्दी उसे खत्म होने से रोक नही सकते। यह एक सर्वथा दूसरी बात है कि उसके खात्मे का उपकरण या सहारा कोई भी और कही भी बने। आदमी जब मरता है, तो कोई-न-कोई बीमारी उसके अन्त का कारण बनती है। इसी प्रकार एक युग जब अपनी समाप्ति की स्थिति मे पहुँचता है, तो कभी कोई प्रतिगामी सफलता उसके अन्त को कुछ दिन और आगे खिसका देती है और कभी कोई सामूहिक प्रयत्न, जिसे शब्दान्तर और स्थिति-विशेष मे विद्रोह अथवा क्रान्ति कहा जा सकता है, उसके अन्त को जरा और निकट ले आता है। इसे युगो का परिवर्तन-काल (Transitory Stage) कह सकते है। इसमे जहाँ पिछले युग के अन्त के आसार खूब स्पष्ट दिखाई देने लगते है, वहाँ नये आनेवाले युग के अग्र-चिन्ह भी उतने ही स्पष्ट हो जाते है। यह स्पष्टता युग-विशेष के सहायक या अवरोधक व्यक्तियो की शक्ति या परिस्थितियो की प्रबलता पर अवलम्बित है।

आज हम इसी तरह के युग-परिवर्तन-काल मे से गुजर रहे है। खत्म होनेवाले युग का अन्त हमे सूर्य के प्रकाश की भाँति स्पष्ट दिखाई दे रहा है। जो नया युग आ रहा है—बल्कि कहना चाहिए कि जिसका श्रीगणेश हो चुका है—उसकी सम्भावनाएँ और शक्तियाँ भी हमे बहुत-कुछ स्पष्ट दिखाई देने लगी है। मानवता का कल्याण इसी मे है—जहाँ तक कि हमारा अपना खयाल है—कि पुराने युग को, जिसने विषमता, शोषण, दुराचार, अमानुषिक अत्याचार, स्वेच्छाचार, एकाधिकार, पाशविक-शक्ति की प्रबलता आदि के द्वारा हमे झगडालू, खोखला और भाई-भाई का दुश्मन बना दिया है, जल्दी-से-जल्दी खत्म किया जाय और नये युग को जल्दी-से-जल्दी लाने का प्रयत्न किया जाय।

भविष्य या नये युग के सम्बन्ध मे आज हम दो तरह की कल्पना-

धाराएँ देख रहे है। पहली कल्पना-धारा है निहित हितोवालो की, जो शोषण, एकाधिकार और पाशविक बल के सहारे आज कोट्याधीश और लाखो मनुष्यो के भाग्य-विधाता बने हुए है। वे भली भाँति जानते है कि नये युग की व्यवस्था कैसी भी क्यो न हो, वह अमानुषिकता, विषमता, शोषण, अन्याय, अनधिकार, अत्याचार और बेईमानी के आधार पर खड़ी हुई मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था से मिलती-जुलती कदापि नही हो सकती। इसीलिए वे अपनी सारी सम्पत्ति और खून तक देकर दूसरो की सम्पत्ति को हड़प जाने और उनका खून पीने की इस व्यवस्था को कायम रखने की जी-तोड कोशिश कर रहे है। अपने नीच स्वार्थों के लिए आज वे मानव-कल्याण और सभ्यता, शान्ति तथा सस्कृति की दुहाई देकर पुराने युग के अन्त और नये युग के आरम्भ मे विलम्ब कर रहे है। जो कुछ हो, निहित हितोवालो का इस प्रकार का दुष्प्रयत्न समझ मे आ सकता है।

दूसरी कल्पना-धारा है निम्न मध्य-वर्ग की, जो बहुत ही स्पष्ट तथा आशा और उत्साहप्रद है। पर इसके होते हुए भी सबसे बडा खतरा आज इसी वर्ग को है। इसके एक बहुत बडे भाग के पास तन ढँकने और पेट भरने तक की सुविधा नही है। अत कल पूरी रोटी मिलने की आशा मे आज मिलनेवाली आधी रोटी भी यह छोड़ दे, यह इससे एक ऐसे त्याग की आशा करना है, जो शायद यह कर न सके। यह आधी रोटी भी इसे उस वर्ग से मिल रही है, जिसे मिटाये बिना इसे पूरी रोटी कभी मिल नही सकती। इसे भुलावा देने, वरगलाने और पूरी रोटी पाने के लिए नये युग को लाने का प्रयत्न करने से रोकने के लिए तरह-तरह के प्रलोभनो और चालो से काम लिया जा रहा है। और कदम-कदम पर इसे मिलनेवाली आधी रोटी भी न देकर भूखो मारने की धमकी भी दी जा रही है। इसके सामने भविष्य का अधिकतम अन्धकारमय चित्र खीचा जा रहा है और कहा जा रहा है कि इसके लिए मौजूदा मार्ग और व्यवस्था ही कल्याणकारी है। आनेवाले युग मे इसको अपनी मेहनत का पूरा-पूरा लाभ नही उठाने

दिया जायगा और सारी सुख-सुविधाओ से वञ्चित कर दिया जायगा। आदर्श और सिद्धान्त नाम की कोई चीज इसके जीवन मे नही रह जायगी। ऐसी दशा मे आश्चर्य ही क्या, यदि भविष्य की आशङ्काओ ने इसके मुसीबतजदा दिल को प्राचीनता या मौजूदा युग के मोह मे फँसा लिया हो और युगान्तर के स्थान पर यह अपने शोषण और अधिकारापहरण मे थोडी-सी रियायत और सुविधा-भर से सन्तुष्ट हो जाना चाहता हो। पर इस तरह युग-परिवर्तन को कब तक टाला जा सकता है ?

स्त्रियो का कर्त्तव्य और दायित्व

ऊपर की पक्तियो मे हमने सक्षेप मे यह दिखाने का यत्न किया है कि निहित-हितो और निम्न मध्य-वर्ग मे प्राचीनता का मोह किस लिए है। निहित हितोवालो की बात के समझने मे किसी को कोई दिक्कत नही हो सकती, पर मध्य-वर्ग का मोह जरा परेशानी पैदा करनेवाला है। जिनमे आत्म-विश्वास की कमी है, वे भविष्य को सदा आशङ्काभयी दृष्टि से देखते है। वे यही समझते है कि न-मालूम कल क्या होगा ? पर जिनमे आत्म-विश्वास पर्याप्त मात्रा मे है, वे भविष्य की आशङ्का से घबरा नही जाते और हमेशा यही सोचा-समझा करते है कि कल कैसा भी हो, पर आज से तो अच्छा ही होगा। मध्य-वर्ग मे आत्म-विश्वास की जो कमी है, वह उसके शोषण और पीडन के इतिहास पर दृष्टिपात करने से आसानी से समझ मे आ जाती है। पर समय का तकाजा है कि उसे अपने-आपमे वह आत्म-विश्वास पैदा करना चाहिए, जो उसको अधिकारो और हितो की इस लडाई मे धोखे से बचाये।

निम्न मध्य-वर्ग मे भी यदि कोई अकिंचन और अधिकार-विहीन वर्ग कहा जा सकता है, तो वह है स्त्रियो का। उनकी लडाई का क्षेत्र देश और समाज से भी पहले घर है। आर्थिक और राजनीतिक अधिकारो से पहले उन्हे सामाजिक और वैयक्तिक अधिकारो के लिए लडना पड़

रहा है। ऐसी स्थिति मे नये युग के निर्माण मे उनका कर्त्तव्य और दायित्व दोहरा हो जाता है—स्वय नई व्यवस्था के लिए लडना और अपने पुरुषो (पतियो, भाइयो और सन्तान) को उसके लिए तैयार करना।

नारी सभी देशो और समाजो मे अधीन, अधम, अधिकार-विहीन, पीडित, शोषित और आश्रित रही है। पाँव की जूती बना या समझ कर भी पुरुष ने उससे वही काम लिया, जो किम्बहुना उसकी पूजा कर—उसे देवी, सती और लक्ष्मी के पद पर आसीन कर। जहाँ पाँव की जूती बना कर पुरुष ने नारी के स्वतन्त्र अस्तित्व की इति-श्री कर दी, वहाँ उसकी पूजा कर उसने उसके पतन और अधिकार-विहीन आत्मार्पण पर नैतिक ढोग का पर्दा डाल दिया और उसके अस्तित्व के रहे-सहे अश या नाम को भी खत्म कर दिया। पूजा के नाम पर जहाँ पुरुष चौका नही, वहाँ नारी के अहभाव को पोषण मिला और स्त्री-पुरुष की विषमता का कोढ ढँक-सा गया। पूज कर भी पुरुष ने नारी को अपनी अतृप्त काम-वासना की पूर्ति का साधन-मात्र बनाये रखा और जब तक उसके शरीर मे रूप और यौवन की धुंधली-सी झाँकी तक भी रही, उसे अपने विलास-भवन से बाहर जाने की स्वतन्त्रता नही दी। और नारी भी इसी मे सुखी तथा सन्तुष्ट रही।

न-मालूम किन-किन कठिनाइयो और सङ्घर्षो के बाद अब जब नारी पुरुष के रग-महल का द्वार तोड़ कर बाहर आने मे समर्थ हुई है, तो उसके सामने ससार एक बहुत बडे प्रश्न-सूचक चिन्ह के रूप मे मुँह बाये खडा है। उसे ऐसा लग रहा है कि पुरुष की विलासिता के फन्दे दूर-दूर तक फैल गये है। जिधर भी वह आँख उठा कर देखती है, पुरुष की वासना अजगर की तरह उसे निगल जाने को खडी है। युगो की पराधीनता और पुरुष-परमेश्वर की आराधना ने उसे इतना पगु और निर्बल बना दिया है कि बाहर आकर वह अपनी रक्षा करने मे भी अपने-आपको असमर्थ पाती है और उसे कभी-कभी यह भी ध्यान हो आता है कि पुरुष के विलास-भवन के अलावा उसके लिए ससार मे और कोई सुरक्षा का स्थान ही नही। तो

क्या वह फिर पुरुष के उसी विलास-भवन की रानी बनेगी, जिसकी यन्त्र-णाओ से छुटकारा पाने के लिए उसने अब तक सङ्घर्ष किया है ? या सदा के लिए उससे मुक्ति पाने के लिए वह बाहर के सभी खतरो और चुनौतियो का दृढता और आत्म-विश्वास के साथ सामना करेगी ?

अपने कर्त्तव्य और दायित्व का निर्णय उसे आज स्वय करना है। सूर्योदय से २–३ घण्टे पहले उठ कर और सूर्यास्त के ४–५ घण्टे बाद तक पति और सन्तान की सेवा तथा पालन-पोषण मे लगे रहना ही उसके और समाज के लिए अधिक हितकर और उपयोगी है या इससे परे भी उसकी कुछ उपयोगिता, दायित्व और कर्त्तव्य है ? पुराने नियम और बन्धन, पद्धतियाँ और प्रणालियाँ ही नारी के लिए उत्तम है या उनका एकदम मूलो-च्छेद कर वह अपने लिए एक नये समाज, नये घर और नये ससार का निर्माण करेगी ? अपने स्वार्थ, जीवन के हित और मानव-कल्याण की दृष्टि से नये युग की आवश्यकता पुरुष की अपेक्षा नारी को ही अधिक है और इसी लिए हम आशा करते है कि उसे इस दिशा मे विशेष तत्परता के साथ आगे बढने की आवश्यकता है।

नई सस्कृति क्यो ?

आज दुनिया बदल रही है और उसके साथ ही बदल रहा है जीवन का दृष्टिकोण भी। जो दिन हम बिता चुके है, अब हमे उनके अनुभव से लाभ उठाने की अन्त-प्रेरणा हुई है। अब तक के नियम, क्रम, व्यवस्थाएँ और इतर प्रणालियाँ हमे सुख, शान्ति और समृद्धि के साथ-ही-साथ कुछ ऐसी दिशाओ मे भी ले गई है, जहाँ हमने एक-दूसरे से लडने, एक-दूसरे को ठगने और धोखा देने की आदते डाल ली है। मौजूदा सम्प्रदायो और सस्कृतियो ने हमे मानव कम रक्खा है और राक्षस अधिक बना दिया है। परिणाम यह हुआ है कि आज मानवता के नाम पर हम दानवता का नग्न-नृत्य देख रहे है। विश्व अशान्ति, शोषण, विषमता और विग्रह से कराह

रहा है। यह बडा ही दुखद और करुण दृश्य है, जिसे न-मालूम हम कितने वर्षों से देखते आये है। अब हम उसे देखते-देखते उकता गये है और चाहते है कि अपनी त्रुटियो और खामियो से लाभ उठाये। दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि आज हमे एक नई सस्कृति और नई सभ्यता की आवश्यकता है।

जो सस्कृति आज है—और युगो से चली आ रही है—उसमे सभी कुछ खराब है, ऐसा हम कदापि नही कहते। जिस नई सस्कृति का हम निर्माण करने जा रहे है, वह सर्वत सन्तोषप्रद और दोप-रहित होगी, ऐसी वात भी नही है। पर हम हृदय से यह महसूस करते है कि एकाधिक युगो से जो सस्कृति हम देखते आ रहे है, उसमे उस प्राचीनता की गहरी छाप है, जो अपनी उपयोगिता खत्म करने के कारण मर चुकी है और जिसकी हमे अब मुतलक कोई जरूरत नही है। जव तक प्राचीनता से हमारा सम्बन्ध रहेगा, हम जीवन को, समाज को और विश्व को नये दृष्टिकोण से नही देख सकते। परिणामत हम उन झगडो-झमेलो से ऊपर उठ कर कुछ भी कर या सोच नही सकते, जो प्राचीन इतिहास और सस्कृति का आधार रहे है। अस्तु—

हम सुधार मे नही, क्रान्ति और विनाश के वाद होनेवाले नव-निर्माण मे विश्वास करते है। नई सस्कृति के निर्माण की वात हम इसीलिए इतने ज़ोर के साथ कह रहे है कि उसमे सुधार की अब कोई गुञ्जाइश ही नही रह गई है। वह तो उस फूटे वर्तन की भाँति है, जो सैकडो वार सुधार कर अब ऐसा विगड गया है कि उसे वदले विना काम ही नही चल सकता। अब उसे और सुधारा नही जा सकता। यह हम मानते हे कि नई सस्कृति का निर्माण काफी समय, परिश्रम और अनुभव-सापेक्ष है। पर इसी डर से हम उसे कव तक टालते जायँगे ? आज नही तो कल, हमे इस कार्य को आरम्भ करना ही पड़ेगा। फिर क्यो न आज ही उसे आरम्भ किया जाय ?

जीवन के नये दृष्टि-कोण और नई सस्कृति को हम सामूहिक रूप मे

देखना चाहते है—आज-कल की सस्कृतियो की भाँति विषमताओ और नवीनताओ की एक तालिका के रूप मे नही। हर देश, जाति और समाज की सस्कृति पृथक् हो, यह हमारी कुछ समझ मे न आनेवाली बात है। भाषा, जाति और देश के साथ सस्कृति का बदल जाना इस बात का द्योतक है कि हम अभी एक नही हो पाये है—अनेक है। और जब तक हम अनेक रहेगे, लडाई, झगडे, शोषण, अपहरण आदि को मिटाना सम्भव नही। इसी अनेकता और पृथकता को मिटाने के लिए हम एक ऐसी नई सस्कृति का निर्माण करना चाहते है, जिसमे सच्चे रूप मे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का सिद्धान्त निहित हो और जो हमे भाषा, जाति और देश के दायरो मे बाँटने-वाली विनाशकारी प्राचीनता से एकदम मुक्त हो। भौगोलिक विषमताओ से हमारी जाति और स्वार्थ कैसे बदल जाते है, यह हमारी समझ मे नही आया। यही बात बहुत-कुछ लिङ्ग-भेद के रूप मे भी कही जा सकती है। हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि पृथक्करण और विषमताओ की जितनी दीवारे हम खडी कर चुके है, उन सब को मिस्मार कर हमे एक नई सस्कृति की नीव डालनी चाहिए।

नई संस्कृति और नारी

सस्कृति की नीव सबसे पूर्व हमारे घरो मे ही पडती है, जिनकी एक-मात्र स्वामिनी है नारी। नई सस्कृति के निर्माण मे नारी का अधिक सहयोग और दायित्व रहेगा और रहना भी चाहिए—इसलिए नही कि अब तक उसके निर्माण मे पुरुष का विशेष हाथ रहा है, बल्कि इसलिए कि नारी ही अधिक पीडित, शोषित और वञ्चित है। अत भावी सस्कृति के निर्माण मे उसका विशेष हाथ रहना इसलिए भी आवश्यक है कि वह अपने स्थान, अधिकारो और दायित्व का स्वय निर्णय एव निर्माण करे, ताकि आगे चल कर फिर हमे यह कहने का मौका न मिले कि हमारा नैतिक पतन नारी के पीडन और शोषण का अभिशाप है! नर और नारी

की शारीरिक विषमता इतनी अहम नही है, जितनी कि सामाजिक, नैतिक और राजनीतिक। समाज ने तो उसे नौकरानी से लेकर वेश्या तक बना डाला है! नीति ने कुत्सा और राजनीति ने अपाहिज! यह स्थिति क्या घोर अन्याय, अपमान और अमानुषिकतापूर्ण नही है? क्या यह मानवता और उसकी कही जानेवाली सस्कृति का अपमान नही है? इस स्थिति मे सुधार करने की मॉग करना अब दकियानूसीपन ही नही उपहासास्पद भी है। फिर हम क्या अनुचित कहते है यदि हमारा यह विश्वास है कि इस सस्कृति का मूलोच्छेद कर हमे नये सिरे से एक नई सस्कृति का निर्माण करना चाहिए। वर्त्तमान स्थिति अब और सह्य नही है।

इस छोटे से लेख मे यह वताना सम्भव नही कि नई सस्कृति मे नारी को अपने लिए किन-किन वातो और व्यवस्थाओ का विशेष रूप से ध्यान रखना होगा। अधिकारो की लडाई नारी-आन्दोलन का मुख्य आधार माना जा सकता है। पर अब नई सस्कृति के निर्माण मे उससे ऊपर उठ कर ही काम करना होगा। मत-भेद और सङ्घर्ष की मनोवृत्ति को लेकर इस दिशा मे बढना घातक होगा। रूस की स्त्रियाँ ऊँचे-से-ऊँचे दायित्वपूर्ण पदो पर बे-रोक-टोक काम कर सकती है, ब्रिटेन की स्त्रियॉ पार्लियामेण्ट मे वैठ कर मत दे सकती है, लेकिन फ्रान्स की स्त्रियो को मताधिकार भी प्राप्त नही है और भारत की स्त्रियॉ तो घर से बाहर निकलने, उदर-पोषण और विवाह आदि के लिए भी पुरुष के अधीन है! नई सस्कृति मे इस प्रकार की नीचतापूर्ण विषमता का नाम तक नही होगा। नारी केवल इसलिए पुरुष से दुर्बल और अयोग्य नही समझी जायगी कि वह 'नारी' है—हाड-मास के वजन मे पुरुष से कम है। जीवन के किसी भी क्षेत्र मे नारी का स्थान पुरुष से कम और निम्न न होगा। वह नटी या तितली नही, मानवी समझी जायगी। अपने कर्त्तव्य, उत्तरदायित्व और अधिकारो का निर्णय वह स्वय करेगी। उसे कव क्या करना चाहिए और क्या नही, इसका निर्णय भी वह स्वय करेगी। पुरुष चौकता है तो चौके, पर अपने जीवन का विधान

वह स्वय बनायगी—अलग नही, पुरुष की सलाह और सहायता से; आदेश से नही।

हमारा यह अभिप्राय कदापि नही है कि नई सस्कृति के निर्माण मे नारी का विशेष हाथ रहे और पुरुष का कम या कुछ भी नही। इस प्रकार विषमता का अन्त सम्भव नही और नारी के बदले शायद पुरुष ताडना और अवमानना का शिकार बने। हम तो चाहते है कि दोनो के सलाह-सहयोग से नई सस्कृति का निर्माण हो और उसमे मौजूदा विषमताओ के कीटाणु न हो। ऐसा होने से दुनिया की आधी से अधिक कठिनाइयाँ स्वत मिट जायँगी। सारी बुराइयो की जड तो यह विषमता ही है। हो सकता है कि हमारी यह बात आज केवल एक बहक ही समझी जाय, पर यह कभी सत्य न हो सकेगी, ऐसा तो कदापि नही कहा जा सकता।

नये युग की नारी

कहना न होगा कि नये युग की नारी बडी तीव्र गति से उन्नति के मार्ग मे बढ रही है। रूढिवादी पुरुष उसके इस सर्वतोमुखी विकास से न केवल आश्चर्यान्वित ही होकर रह गया है, बल्कि किसी हद तक बौखला भी उठा है। उसे आज अपने भविष्य और अस्तित्व की चिन्ता है। यह है भी स्वाभाविक—क्योकि पुरुष ने युगो से उसे अपना गुलाम बना कर रक्खा है, उसका मनमाना उपभोग किया है। उसने कल्पना-जगत् मे एक बडे ही लुभावने और सुनहरे स्वप्न की सृष्टि कर रक्खी थी—कि नारी मेरे मनोरञ्जन की गुडिया है, वह मेरे हाथ की कठपुतली है, अपना पेट पालने के लिए वह मुझ पर निर्भर करती है, अपनी रक्षा के लिए भी वह मुझ पर ही अवलम्बित है, फिर मुझे छोड कर भला वह जा कहाँ सकती है ?

पर समय के प्रवाह ने उसके इस स्वप्न को आज न सिर्फ छिन्न-भिन्न ही कर दिया है, बल्कि उसके जीवन मे—घर और समाज मे—क्रान्ति का एक तूफान-सा खडा कर दिया है। वह भौचक होकर इस समाज-व्यवस्था के—जिसे उसने 'मीठी-मीठी गप्प और कडवी-कडवी थू' के सिद्धान्त को दृष्टि मे रख कर मनमाने ढङ्ग से कायम किया था—आमूल-चूल परिवर्तन को देख रहा है। नारी ने आज उसके खिलाफ जेहाद बोल दी है। उसकी स्वार्थ-पूर्ण बातो, नियमो और धर्म कहे जानेवाले वाक्-जाल को नारी ने फूँक मार कर उडा दिया है। उसकी मिथ्या धारणाओ और दुराकांक्षाओ को नारी ने बीज-रूप मे ही मसल दिया है। उसकी स्वेच्छाचारिता और अपनी गुलामी को नारी ने अपने पावो से रौंद डाला है।

और कोई उपाय न देखकर आज पुरुष ने धर्म, समाज, सभ्यता और संस्कृति की दुहाई देना आरम्भ किया है। उसमे शायद यह सोचने की

बुद्धि ही नही रह गई है कि अब वह समय दूर नही है जब नये युग की नारी अपने लिये—और परोक्ष रूप से पुरुष के लिए भी—एक नये समाज, नई सभ्यता और नई सस्कृति का निर्माण करने जा रही है। उस नये समाज मे पुरुष का क्या स्थान होगा और नारी का क्या, इसका निर्णय अकेला पुरुष या अकेली नारी नही, बल्कि दोनो मिल कर अपनी सुविधा और हितो को दृष्टि मे रख कर करेगे। वह नई सभ्यता क्या होगी, इसका निर्णय भी पुरुष और नारी दोनो मिल कर ही करेग। हमारी वह नई सस्कृति क्या और कैसी होगी, इसका निर्णय भी मनु, तुलसी, पण्डे अथवा पुरोहित, मौलवी या पादरी नही, नारी और पुरुष ही मिलकर करेगे। मै यह नही कहता कि हमारे समाज, सभ्यता और सस्कृति मे कोई अच्छी बात है ही नही और उन्हे सर्वाश मे तिलाञ्जलि दे देनी चाहिये। इनमे पुरानेपन के बावजूद कुछ बाते अच्छी है, जिनसे हम जीवन की नई परिपाटी का निर्माण करने मे यथोचित लाभ उठा सकते है। पर इनकी अधिकाश बाते अब एकदम असामयिक हो गई है। वे एक खास समय के लिये थी, जो युग हुए बीत चुका। अब उन्हे सडे-गले पुराने तावीज की तरह गले से लटकाये फिरने का मोह हमे त्याग देना चाहिये। समय की पुकार और अपनी आवश्यकताओ को देख कर मनुष्य अपने समाज, सभ्यता और सस्कृति मे सदा परिवर्तन करता रहा है। यह प्रकृति की ही प्रेरणा से होता रहा है। आज परिवर्तन की यह जिम्मेदारी सर्वांश मे नही तो अधिकाश मे नारी ने अपने ऊपर ली है, क्योकि वर्तमान समाज, सभ्यता और सस्कृति मे पुरुषपन की ही अधिक बू है। पुरुष के स्वार्थो का पलडा बहुत भारी हो गया है। पर इससे पुरुष को घबराना नही चाहिये। अपने लिये उसने युगो से जिन सुविधाओ की विरासत लिखा रक्खी है, अब नारी को उसमे हिस्सा देनेमे उसे झिझकना नही चाहिये, क्योकि उसकी झिझक, अप्रसन्नता या विरोध नारी को आगे बढने से, अधिकारो और ज़िम्मेदारियो मे हिस्सा बँटाने से रोक नही सकते। नारी ने कदम उठाया

है और अब वह शक्ति-भर आगे बढ कर ही दम लेगी। पुरुष के लिए अच्छा यही है कि वह नारी के विकास-भाव का आदर और स्वागत करे तथा उसके आगे बढने मे सहायता और सहयोग दे, ताकि दोनो का जीवन ऊँचा उठ सके और दोनो मिल कर एक नवीन 'लौकिक-स्वर्ग' की सृष्टि करने मे समर्थ हो।

दूसरा पहलू

पर नये युग की नारी के विकास का एक दूसरा पहलू भी है, जिसे यदि हम नारी, पुरुष और समाज की भलाई चाहते है, तो अधिक काल तक नजर-अन्दाज नही कर सकते। उसके विकास के चकाचौंध कर देनेवाले प्रकाश मे हमे कुछ धुँधलापन या कालिमा की एक क्षीण-रेखा का आभास भी हो रहा है। उन्नति के जिस मार्ग पर वह आज आँख मूँद कर बेख़ौफ दौडी जा रही है, उसमे हमे अनेक गढो और अवरोधो की आशङ्काएँ हो रही है। हो सकता है, कल सम्भवत. सत्य सिद्ध होनेवाली ये शङ्काएँ आज हमे भ्रम या दकियानूसीपन ही जान पडे, पर क्या हर्ज है, अगर उनसे वचने का उपाय पहले से ही सोच लिया जाय। अपनी बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए हमे कह देना चाहिये कि नये युग की नारी सर्वतोमुखी विकास के भ्रम मे, उसकी उत्कट महत्वाकाक्षा के प्रवाह मे, कही-कही, किसी अश तक अपने उचित मार्ग को छोड कर गलत दिशा की ओर भी चल पडी है। विना किसी दलील या आधार के हमारा मुँह वन्द करने के लिये कहा जा सकता है कि हम पुरुष होने के नाते शायद स्त्रियो की उन्नति को फूटी आँखो भी देखना पसन्द नही करते या उनके विकास के विरोधी है या हमे उन्हे आगे बढते देखकर जलन और कुढन होती है, इसीलिये हम उन्हे हतोत्साहित करने पर उतारू हो गये है। ऐसा ख़याल करनेवालो के लिये हमारे पास कोई दलील या कैफियत नही है। अधिक-से-अधिक हम सिर्फ यही कह सकते है कि ऐसा सोचना हमारे साथ अन्याय करना होगा। इस समस्या पर हमने स्त्रियो को ग़ुलाम वनाये रखनेवाले पुरुष की हैसियत

से कभी विचार नही किया है। वैसा करना कूप-मण्डूकता या अदूर-दर्शिता के विज्ञापन से अधिक कुछ नही है, ऐसा हमारा खयाल है।

इस प्रश्न को हमने नारी और पुरुष के युग्म-हित, समाज की वस्तु-स्थिति और जीवन के पार्थिव आधार की दृष्टि से ही समझने की कोशिश की है। नही कह सकते, इसमे हमें कहाँ तक सफलता मिली है। पर हमारे कहने का यह तात्पर्य कदापि नही है नारी आगे न वढे। वह जरूर वढे, किन्तु इतनी लापरवाही से आगे भी न वढे कि उसे खाई-खन्दक तक का ध्यान न रहे। हमारे जीवन मे पग-पग पर गढे (Pitfalls) है, उनसे बचकर चलना ही नारी की वुद्धिमत्ता और उसके आदर्श सिद्धान्तो की सफलता है। किन्तु विकास, उन्नति और समानाधिकार आदि की प्रवल महत्वाकाक्षाओ के प्रवाह मे वह जाना नारी के लिए है भी स्वाभाविक ही। जिस प्रकार वहुत दिनो के रोगी को रोग-शय्या से उठने पर वडी भूख लगती है और यदि इस अवसर पर जरा सयम और नियत्रण से काम न लिया जाय, तो वह जरूरत से ज्यादा खा जाता है, जिसका परिणाम उसके लिये वलवर्द्धक या स्वास्थ्यकर न होकर हानिकर ही होता है। यही हाल किसी हद तक आज नये युग की नारी का भी है। युगो तक वह पर्दे, घर की चहारदीवारी या समाज के रीति-रिवाजो के आडम्बर मे कैद रही है। आज एक जमाने के वाद उसने वाहर आकर स्वच्छन्दता से स्वतन्त्रता के वातावरण मे साँस ली है। घर के वाहर का जीवन उसे प्रिय लगा है—वाहरी दुनिया उसके लिये एक अजीव आकर्षण और सम्मोहन लिये हुए है। उसे ऐसा जान पड रहा है मानो सव दिशाएँ—जीवन के सव क्षेत्र—हाथ वढा कर उसे अपनी ओर वुला रहे है। वह भी चाहती है कि वह सव तरफ जाय, सव-कुछ करे, जिधर उसे जाना चाहिये, उधर जाय और जिधर न जाना चाहिये, उधर भी जाय, जो उसे करना चाहिये वह करे और न करने लायक भी जो-कुछ उसके जी मे आवे, करके देखे। आखिर इसमे

वुराई क्या है ? सदियो की गुलामी और समाज के वन्धनो मे जकड़े रहने के कारण आज उसके हृदय में यह प्रतिस्पर्धा पैदा हो गई है कि जो पुरुष करे, वह मैं क्यों न करूँ ? मानो आज उसने सारे ससार को चुनौती दे दी है कि दुनिया में कोई ऐसा कोना न रहे, जो सिर्फ पुरुष के लिये हो और नारी के लिये नही । दुनिया में कोई ऐसा काम न रहे, जो सिर्फ पुरुष कर सके और नारी नहीं । हौसला-अफजाई के लिये पुरुष नारी की या स्वय नारी अपनी पीठ भले ही ठोक ले, पर अन्त मे यह विकृत स्पर्धा उसे अपने चरमलक्ष्य तक पहुँचाने मे शायद सफल न होगी, ऐसा हमारा अनुमान है ।

जीवन के जिस मार्ग मे वह आज वडी तीव्रगति से बढी जा रही है, कौन कह सकता है कि कल जरूरत से ज्यादा आगे वढ जाने पर, अपनी गलती महसूस कर, उसे वापस लौटना नही पडेगा ? आगे वढ कर पीछे लौटना अपमान नही तो क्या उसके लिये ग्लानि और दु ख का हेतु न होगा ? तव क्यो न वह आज ही फूँक-फूँक कर पाँव आगे धरे । एक कदम और आगे वढाने से पहले गम्भीरतापूर्वक यह सोच ले कि उसका हित-अहित कहाँ तक उससे प्रभावित होगा ? सम्भव है, उसकी यह धारणा हो कि जिस पुरुष ने उसे चिर-काल तक गुलाम वनाये रक्खा, वह उसका हितैषी या पथ-प्रदर्शक कैसे हो सकता है ? अत वह पुरुष की वात क्यो माने ? किसी हद तक उसकी यह धारणा ठीक भी है, पर वह स्वय तो अपना हिताहित सोच सकती है । कल उसने पर्दा छोडा, आज घर छोडा और मुमकिन है, कल वह 'पति' कहे जानेवाले पुरुष को भी अपना शत्रु नही तो प्रतिस्पर्धी समझ कर छोड दे, हालाँकि इसकी सम्भावना अभी बहुत ही कम देख पडती है । जब वह 'पूर्ण स्वतत्र और स्वावलम्बी' होने के लिए निकल पडी है, तो उसे अपना हिताहित भी सोचना ही पडेगा ।

अब हम नये युग की नारी जीवन के जिन विभिन्न क्षेत्रो मे अग्रसर हुई है, पृथक्-पृथक् रूप से उन पर प्रकाश डालेगे । हमारा प्रयत्न सिर्फ

यह दिखाना होगा कि नये युग की नारी ने जो असाधारण उन्नति की है, उसमे जहाँ-तहाँ 'विकास की विकृति' के कीटाणु भी है या नही ? सभी क्षेत्रो मे वह आगे बढी है, पर कही-कही वह जरूरत से ज्यादा और गलत दिशा की ओर भी चल पडी है। सबसे प्रथम हम शिक्षा की ही बात लेते है।

शिक्षा के क्षेत्र मे

नारी ने सबसे अधिक क्रान्ति की है। इस क्षेत्र मे वह कभी-कभी पुरुष से भी आगे बढ़ गई है। उसने यह सिद्ध कर दिया है कि अवसर और सुविधाएँ मिलने पर नारी पढने मे भी पुरुष से कम नही है, वह उसकी बराबरी कर सकती है और उससे आगे भी निकल सकती है। कई बार उसने विश्वविद्यालय की परीक्षाओ मे सर्वप्रथम रह कर पुरुष के मिथ्या गर्वको खर्व किया है। अपनी इस सफलता पर नारी को गर्व हो सकता है और पुरुष को प्रसन्नता भी, पर देखना तो यह है कि उसकी विश्वविद्यालय की यह सफलता, अच्छे-अच्छे प्रशसापत्र और प्रमाण-पत्र और पढाई में तेज रहने के कारण मिले हुए पदक और पारितोषिको ने उसके 'जीवन की सफलता' मे कहाँ तक योग दिया है ? अँगरेजी, इतिहास, गणित, विज्ञान या दर्शन मे बी० ए०, एम० ए० की डिग्री या डॉक्टरेट प्राप्त करनेवाली महिलाओ के जीवन ने समाज को अथवा स्वय उन्हे क्या लाभ पहुँचाया है ?

उत्तर स्पष्ट है—उच्च शिक्षा प्राप्त कर नये युग की नारी ने अपने लिये एक नया मार्ग खोज निकाला है और वह है 'नौकरियो की दौड।' इसमे तो कोई सन्देह नही कि शिक्षा ने नारी को अधिक स्वतन्त्र व स्वावलम्बी, विचारशील और पार्थिव दृष्टि से उन्नत एव समृद्ध बना दिया है। पर यदि हमारा अनुभव गलत और भ्रान्तिपूर्ण नही है, तो कहना पडेगा कि वह 'स्त्रीत्व' और 'मातृत्व' से कुछ दूर-सी हट गई या हट रही है। घर और गृहस्थी के कामो से उसे एक प्रकार की घृणा नही तो अरुचि-सी

अवश्य हो गई है। एक तरह से घर उसके लिये जीवन का प्रधान क्षेत्र न रह कर नहाने-धोने और सोने की जगह-मात्र रह गया है। भोजन उसे होटल या बाजार मे मिल जाता है। चाय या नाश्ते के लिये रैस्टोरॉ, काफे आदि की कमी नही है। सुबह पार्क या बाग और शाम को क्लब या टैनिस-कोर्ट उसके मनोरजन के लिये है ही। दिन सारा स्कूल, दफ्तर या अस्पताल मे बीत जाता है और शाम क्लब, सिनेमा, पार्टी या सैर-सपाटे मे। बस नित्य-क्रियाओ से निवृत्त होने और रात को सोने के लिये उसे 'घर' की आवश्यकता जरूर है। नित्य-क्रियाओ से निवृत्त होने की सुविधा तो अब बाहर भी प्राप्त होने लगी है और यदि पाश्चात्य देशो की भॉति हमारे देश मे भी 'रात्रि-क्लबो' का प्रचार बढा, तो शायद सोने के लिए घर लेना भी कभी अनावश्यक और फजूलखर्ची समझा जाने लगेगा। अस्तु—

यह स्थिति भारत के बडे-बडे शहरो मे रहनेवाले उच्च शिक्षा-प्राप्त धनी परिवारो की है। पर मध्यम श्रेणी की और साधारण पढी-लिखी नारी पाश्चात्य सभ्यता की दृष्टि से अभी इतनी आगे नही बढ सकी है। मोटर, टेनिस का रैकेट, क्लबो की चुहलबाजियॉ और फैशन-परस्ती उसका जी जरूर लुभाती है, पर अर्थाभाव उसे आगे बढने नही देता। ऐसी नारी पढ-लिखकर भी नई रोशनी की सभ्यता के खयाल से 'अधकचरी' ही रह जाती है। कभी-कभी वह अपने लिये इस विशेषण का प्रयोग देखकर अपने को कुण्ठित अथवा ग्लानि-गलित भी महसूस करती है, पर कुछ झिझक और कुछ आर्थिक-अडचनो के कारण वह इस कलङ्क को एकदम धो नही सकती। इसीलिये उसका बाहरी जीवन चद घण्टो का ही है, अधिकाश समय उसे घर मे ही बिताना पडता है। इसी मजबूरी के कारण उसका अपने घर से थोडा-सा सम्बन्ध बना रह गया है और उसने इसे एकदम पति या नौकर के हाथो नही सौप दिया है।

हो सकता है, हमारे इस कथन मे किसी हद तक अत्युक्ति हो। पर

हम यह स्पष्ट कर देना चाहते है कि हम यह वात १०० फीसदी स्त्रियो के सम्वन्ध मे नही कह रहे। अपवाद सव देशो मे सव समय होते रहे है, पर आम धारणाएँ वहुमत के आधार पर ही वनाई जाती है। हम समझते है कि इसमे तो दो मत होने की विशेष सम्भावना नही है कि उच्च या साधारण शिक्षा-प्राप्त स्त्रियो के मन मे घर और गृहस्थी के प्रति किसी हद तक उदासीनता का भाव आ गया है। कही-कही इसका कारण आलस्य और अकर्मण्यता है, तो कही-कही तर्क (या कुतर्क ?) और Business Viewpoint! इसके पक्ष और विपक्ष दोनो के सम्वन्ध मे हानि और लाभ वतलाये जा सकते है, क्योकि दलीलवाजी की सीमा निर्धारित करना असम्भव है। पर इस विवाद मे न पड कर हम सिर्फ यही वताना चाहते है कि उच्च या साधारण शिक्षा-प्राप्त नारी को घर और गृहस्थी मे आज 'जीवन का रस' नही देख पड रहा है। पाठक-पाठिकाओ को भ्रम न हो, अत हम अपनी यह वात फिर दोहरा दे कि हमारा मतलव यह नही है कि सव शिक्षिता स्त्रियो की घर-गृहस्थी का यही हाल है। वहुत से ऐसे शिक्षित दम्पति भी है, जो साधारणतया वडे सुखी और सन्तुष्ट है। पर इनकी सख्या भारत की जन-सख्या को देखते हुए वहुत कम है। अधिक सख्या उन्ही की है जो अविश्वास, सन्देह, घृणा, अरुचि, कलह, मनमुटाव और जिल्लत का नीरस गृहस्थ-जीवन विता रहे है। वहुत से अलग-अलग रहने लगे है और वहुत से 'तलाक' का सोच-सोचकर भी रह जाते है! ये सब बाते प्राय सर्वसाधारण तक पहुँचने नही पाती। वहुत से शिक्षित दम्पति तो मन-ही-मन मे परस्पर कुत्ते-विल्ली का-सा स्वभाव होने पर भी लोक-लाज के डर से ऊपर से घर के वाहर वडे खुश और हिले-मिले देख पडते है। किन्तु वास्तविक सुख और शान्ति कितने शिक्षित परिवारो मे है, यह कोई भुक्तभोगी ही जान सकता है।

इससे हमारा मतलव यह कदापि नही है कि स्त्री को शिक्षा देनी ही

नही चाहिये, या शिक्षिता स्त्री घर-गृहस्थी के काम की नही रहती। ऐसा ख़याल करना अपनी सङ्कीर्णता और मूर्खता का ही इजहार करना होगा। पर यह जरूरी है कि शिक्षा पात्र की आवश्यकता और उपयोगिता को देख कर दी जाय। एक ही प्रकार की शिक्षा सब लोगो के लिये सब समय हितकर नही हो सकती। जहाँ तक हम समझ पाये है, स्त्रियो को आजकल जो शिक्षा दी जा रही है, वह सर्वांश मे उनके उपयुक्त नही है। हमारे घर या गृहस्थी की अशान्ति का एकमात्र कारण यही है। स्त्री पर 'स्त्रीत्व' और 'मातृत्व' की गुरुतम जिम्मेदारियाँ है और इन्ही को सम्यक् रूप से निभा सकने योग्य शिक्षा उसे मिलनी चाहिये, इनसे विमुख करनेवाली शिक्षा नही। इस दृष्टि से आजकल स्त्रियो को जो शिक्षा मिल रही है, वह एक प्रकार से कुशिक्षा ही है। फिर यदि कॉलेज से बी० ए० या एम० ए० होकर निकलनेवाली युवती स्त्रीत्व या मातृत्व की जिम्मेदारी को न समझे, भार-रूप या जी का जञ्जाल समझे, घर-गृहस्थी के कामो मे रस न ले, तो इसमें बेचारी नारी का क्या दोष? जो शिक्षा स्त्री मे स्त्रीत्व या मातृत्व की भावना जागृत कर सकती थी, वह तो उसे दी ही नही गई। फिर यदि उनके प्रति उसकी उदासीनता या उपेक्षा-भाव हो, तो इसमें आश्चर्य ही क्या?

स्त्री के उपयुक्त शिक्षा कैसी हो, यह एक पृथक् लेख का विषय है। इस समय तो हम केवल यही बताना चाहते है कि अशिक्षा के अंधकार से निकल कर आज नये युग की नारी शिक्षा के जिस प्रकाश-क्षेत्र मे बढी और बढ रही है, वह उसके लिये सर्वथा उपयुक्त नही है। इसका कारण चाहे दिशाभ्रम हो, चाहे दुर्दमनीय महत्वाकांक्षा और चाहे पुरुष की बराबरी करने की स्पर्धा, पर है यह उसके लिये किसी हद तक गलत मार्ग। इस बात पर उसे आज भली भांति विचार कर लेना चाहिये। पर हम यह भी नही कहते कि वर्तमान शिक्षा का मार्ग उसके लिये एकदम गलत ही है और इससे उसे लाभ कुछ नही हुआ है।

आर्थिक क्षेत्र मे

वास्तव मे देखा जाय तो इसमें शिक्षा के कारण ही नारी का प्रवेश हुआ है। पढ-लिख कर उसने अपने अस्तित्व और अधिकारो को समझा है। पुरुषो के अत्याचारो का मुकाबिला करने और उनकी अधीनता से मुक्त होकर समाज और घर में अपना उचित स्थान प्राप्त करने की भावना उसमे जाग्रत हुई है। पर इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण लाभ उसे यह हुआ है कि आज वह किसी अश तक अपनी जीविका के लिये अनिवार्यत एकमात्र पुरुष पर ही निर्भर नही रही है। कुत्ते-बिल्ली की तरह पुरुष टुकडा फेंके, तभी उसका पेट भरे, यह अब अतीत की गाथा हो गई है। गाय-भैंस की तरह घर के खूंटे से बँधी रहकर वह पुरुष के लिये दिन-भर मजदूरनी की तरह काम करे, कष्ट, अवहेलना और अपमान सहे, रूखा-सूखा खाय और मोटा तथा फटा-पुराना पहने, इसमे उसने नये परिवर्तन एव सशोधन कर लिये है। इसका परिणाम यह हुआ है कि उसके प्रति पुरुष के व्यवहार मे काफी परिवर्तन आ गया है। मन मे सशङ्कित एव भयभीत होने पर भी वह नारी को आदर और समानता की दृष्टि से देखने लगा है, हालाँकि अभी इसमे स्वाभाविकता की अपेक्षा कृत्रिमता की ही बू अधिक है। पर शिक्षित होकर और आर्थिक-क्षेत्र मे प्रवेश कर नारी ने पुरुष को 'सीधा' कर दिया है, उसके होश-हवास दुरुस्त कर दिये है, इसमे कोई सन्देह नही।

हम यह मानने को तैयार नही कि नारी के आर्थिक-क्षेत्र मे प्रवेश करने से पुरुष को किसी हद तक बेकारी का शिकार होना पडा है। जो लोग यह दलील देते है, वे एक प्रकार से आर्थिक क्षेत्र मे नारी के प्रवेश को बन्द या कम करना चाहते है। आर्थिक-क्षेत्र मे भी नारी ने केवल नौकरियो के विभाग मे ही प्रवेश किया है। उन अगणित व्यापार-व्यवसाय के क्षेत्रो मे, जिन पर अभी भी पुरुष का एकाधिकार है, अभी तक उसका प्रवेश

प्राय: बिल्कुल नही हुआ है; बल्कि यो कहना चाहिये कि उनकी ओर अभी उसने ध्यान ही नही दिया है। नौकरियो मे भी नारी ने अपने लिये अभी केवल अध्यापिका, डॉक्टरनी, नर्स, धाय, आदि के कामों को ही चुना है—प्राइवेट-सेक्रेटरी, टाइपिस्ट, क्लार्क, बार-मेड, दुकानपर सौदा बेचने, बुकिङ्ग अथवा टेलीफोन-ऑपरेटर आदि की ओर भारतीय नारी विशेष रूप से आकृष्ट नही हुई है; यद्यपि पश्चिमी देशो मे ये नौकरियाँ एक प्रकार से नारी के लिये ही सुरक्षित हो चुकी है। विशेषज्ञो ने प्रयोग करके यह निष्कर्ष निकाला है कि इन कामो मे विशेष शारीरिक श्रम करने की आवश्यकता न होने से ये नारी के लिये विशेष उपयुक्त है। हमारी समझ मे भारतीय नारी को भी इस ओर क़दम बढाना चाहिये।

आर्थिक क्षेत्र मे नारी का प्रवेश उसके अपने लिये, पुरुष के लिये और वस्तुत: समाज के लिये बड़ा ही हितकर सिद्ध हुआ है। अनुभव ने सिद्ध कर दिया है कि स्त्रियो और बच्चो का इलाज जितनी अच्छी तरह नारी (डॉक्टरनी) कर सकती है, पुरुष (डॉक्टर) नही। छोटे बच्चो को जिस प्यार से नारी पढा सकती है, पुरुष नही। प्राय देखा जाता है कि पुरुष की प्रकृति कठोर होने से उसके हँसने पर भी बच्चे भयभीत ही रहते है। 'मास्टर जी पीटेगे' यह डर बहुत से बच्चो के स्कूल न जाने का एक मुख्य कारण है। इसीलिये पश्चिमी देशो मे आजकल किंडरगार्टन या माटीसोरी की शिक्षा के लिये प्राय: स्त्रियाँ ही रक्खी जाती है, पुरुष नही। ज्यो-ज्यो स्त्री-शिक्षा का प्रसार होता जा रहा है, वयस्क कन्याओ को पढाने के लिये भी नारी की आवश्यकता बढती जा रही है। नर्स या धाय का काम तो शायद एकमात्र नारी की ही बपौती है।

हम नही कहते कि शिक्षा की भाँति आर्थिक क्षेत्र मे भी नारी गलत मार्ग में बढी है। इस क्षेत्र मे वह जितनी आगे बढ़ सकती थी या जितनी उसके बढने की गुजाइश है, अभी वह उतनी नही बढी है। पर जितनी भी वह बढी है, उसका परिणाम उसके लिये विशेष अच्छा नही हुआ है।

नौकरियो के फेर मे पड कर उसने थोडा-सा आर्थिक स्वावलम्वन जरूर प्राप्त कर लिया है, पर चाँदी के चन्द टुकडो के लिये वह अन्य कई प्रकार से परमुखापेक्षी हो गई है। उसके कपडे सीने व धोने, रोटी वनाने, घर को झाडने-वुहारने, सँभालने-सँवारने तथा वच्चो की देख-रेख करने के लिये आज उसे 'एक दूसरे व्यक्ति' की जरूरत होने लगी है—भले ही वह व्यक्ति पति हो, नौकर या नौकरानी हो या कोई सगा-साथी। थोडे से आर्थिक स्वावलम्वन के लिये उसने कितना वडा परावलम्वन अपने सिर लाद लिया है, यह शायद वह अभी ठीक-ठीक सोच या समझ नही पाई है। दिन-भर नौकरी करके वह जो पैसे जुटा पाती है, वे नौकरो के वेतन, कपडो की धुलाई-सिलाई, मकान-भाडा और ऐसे ही अन्य खर्चो मे चले जाते है, वास्तव मे देखा जाय तो यह स्वावलम्वन उसके लिये वडा महँगा है। भले ही वह समझे कि घर के काम-धन्धो से उसका पिण्ड छूट गया, नौकर सव-कुछ कर देते है और वह आराम से रहती है। पर जरा विचारपूर्वक देखा जाय तो इस तरह का स्वावलम्वन आर्थिक, नैतिक और स्वास्थ्य की दृष्टि से उसके लिये वडा हानिकर है। यह स्वावलम्वन उसके मातृत्व या स्त्रीत्व के कर्तव्य-पालन के मार्ग मे एक हद तक वाधक सिद्ध होता है। सच पूछा जाय तो इससे नारीत्व का शनै-शनै ह्रास होता जा रहा है। इससे नारी अपने पवित्र और प्रतिष्ठित स्थान से कुछ हट-सी गई है।

हमारा यह आशय कदापि नही है कि नारी इस क्षेत्र मे प्रवेश ही न करे अथवा विशेष आगे न वढे। हमारा कहना तो यह है कि इस क्षेत्र मे वह इतनी आगे भी न वढ जाय कि उसे अपना, अपने घर और वाल-वच्चो का अपनी स्थिति का तथा अपने कर्तव्य और उत्तरदायित्व का कोई ध्यान ही न रहे। आर्थिक स्वावलम्वन चाँदी की चादर वन उसके समूचे जीवन को—उसके अन्तरङ्ग और वहिरङ्ग को—आच्छादित न कर ले। अर्थार्जन उसकी जीविका का साधन भले ही हो जाय, किन्तु उसके जीवन का चरम लक्ष्य नही। नारी-जीवन की महत्ता और ध्येय

को हम धुँधला या चाँदी के टुकडो पर कुर्बान होता नही देख सकते। हमारा तो दृढ विश्वास है कि पुरुष के जीवन की कुञ्जी नारी के हाथ मे है। उसके उत्थान और पतन का प्रत्यक्ष या परोक्ष कारण वही हो सकती है। उसकी महत्ता और ध्येय का अक्षुण्ण रहना ही, उसके, पुरुष के और सुतरा समाज के लिये गर्व और गौरव का हेतु हो सकता है।

सामाजिक क्षेत्र में

नारी का प्रवेश उसकी शिक्षा और आर्थिक स्वावलम्वन का प्रतीक है। सामाजिक क्षेत्र को हमने उसकी शिक्षा और आर्थिक क्षेत्र से पृथक् इसलिये माना है कि पुरुष की दीर्घकालीन अधीनता से मुक्त होने के लिये उसे शिक्षित और स्वावलम्वी होने के साथ ही कुछ अतिरिक्त प्रयत्न भी करना पड रहा है। इस क्षेत्र मे उसे अपना सुधार करने, अपनी बुराइयो और कमजोरियो को दूर करने तथा अपने अधिकारो को प्राप्त करने और सुरक्षित रखने के लिये एक नवीन प्रयत्न और अनथक परिश्रम करना पड रहा है। घर की भाँति समाज मे भी पुरुष ने उसे दवाकर रक्खा है, कभी उभरने का अवसर नही दिया। समाज के नियमो और पद्धतियो का जाल उसने कुछ ऐसा विछाया है कि नारी को उसकी अधीनता और रूढिवाद से मुक्त होकर अपना स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित करने का अवसर ही न मिले। नारी की सामाजिक दुरवस्था एक प्रकार से पुरुष का वहुत वड़ा स्वार्थ वन गई है। वह चाहता है, सोचता है और भरसक प्रयत्न करता है कि नारी अपनी इस स्थिति से ऊपर न उठ सके। विचार-सङ्कीर्णतावश आज उसके मन मे यह शङ्का उठ खडी हुई है कि समाज मे अगर नारी का प्रभुत्व हो गया, तो उसकी दुराकाक्षाओ और पाशविक-मनोवृत्ति का—जिसका कि वह अव आदी हो गया है—एकवारगी खात्मा हो जायगा। शव्दान्तर मे कहा जा सकता है कि अधिकारो के लिये आज उसमे और नारी मे एक जवरदस्त जद्दोजहद चल रही है। दोनो इस

वात के लिये प्रयत्नशील हैं कि घर और जीवन मे प्रभुत्व 'मेरा' रहे। उसके इस जीवन-सग्राम या स्पर्धा का क्षेत्र आज का समाज है।

समाज मे नारी अभी अपनी स्थिति सँभाल या सुदृढ नही कर पाई हैं। कह सकते हैं कि उसका एक पाँव अभी घर मे है और दूसरा घर के वाहर—समाज मे। घरवाला पाँव भी वह उठाकर समाज मे रख सकेगी या समाजवाला पाँव उठाकर उसे घर मे रखना होगा, इसका निर्णय उसकी शिक्षा और आर्थिक स्वावलम्वन का भविष्य ही करेगा। इस समय घर से वह पाँव उठा चुकी है और समाज मे पाँव रख भी चुकी है, पर मजबूती से नही। हमारे समाज का ढाँचा ही कुछ इस प्रकार का वना हुआ है कि नारी यहाँ अपने दोनो पाँव दृढतापूर्वक जमा कर खडी हो सकेगी, इसमे कई तरह की आशङ्काएँ और कठिनाइयाँ हैं। नारी को सफलता मिल रही है, मिलने की गुन्जाइश भी है, पर वह कव तक कृतकार्य होगी या न होगी, यह कहना अभी कठिन है।

शिक्षित और आर्थिक रूप से स्वावलम्वी होकर भी समाज की वहुत-सी शृङ्खलाओ से आज नारी वच नही सकती है। समाज की सवसे कडुवी गोली—जिसे मन या वेमन से उसे निगलना ही पडता हैं—हैं 'विवाह'। पुरुष ने समाज का जो विधान वनाया है, यह उसकी सवसे वडी वेडी है। जव कभी अपवाद-स्वरूप नारी ने इस वेडी को पाँव मे डालने से, इस कडवी गोली को निगलने से, इन्कार किया है, समाज ने—जो आज एकमात्र पुरुष की कूटनीति का जाल-भर है—वदनाम कर, खिल्ली उडा कर, आरोप और अभियोग लगा कर उसे इतना कठोर दण्ड दिया है कि वह कही की नही रह गई है। कई वार तो इससे तङ्ग आकर या तो उसे वलि का वकरा वनना पडा है या फिर पुरुष की गुलामी को स्वीकार करना पडा है। विवाह ने समाज और पुरुष के वीच मे नारी के निस्तार का कोई तीसरा मार्ग ही नही रक्खा है। हमारा यह अभिप्राय नही है कि नारी विवाह को एकदम तिलाञ्जलि ही दे दे। यह तो सर्वथा

असम्भव, अव्यावहारिक और अहितकर होगा। पर हम यह जरूर कहेगे कि उसे इसमे आमूल-चूल परिवर्तन अवश्य करना होगा—यदि उसे स्वाभिमान और इज्जत के साथ जीना है। क्योकि हमारे समाज के केवल कान है, आँखे नही, शायद हृदय भी नही। इन चीजो का समावेश उसमे नये युग की नारी को ही करना होगा।

यदि हम यह नही कहे कि सामाजिक क्षेत्र मे भी नारी एक गलत दिशा की ओर बढ रही है, तो यह तो जरूर कहेगे कि वह उस ओर जाने की तैयारी कर रही है। शिक्षा और आर्थिक स्वावलम्बन से उसने जो स्वच्छन्दता प्राप्त की है, पुरुष आज उससे अनुचित लाभ उठाने पर उतारू हो चला है। इस वार पुरुष ने पाशविक वल, आर्थिक प्रलोभन, धर्म या समाज के कानूनो का सहारा न लेकर एक नई चाल चली है। इस वार उसने अपने आपको स्वतन्त्र, स्वच्छन्द या स्वावलम्वी कहनेवाली शिक्षिता नारी को पश्चिम के सव्ज वाग दिखाये है, उनकी गुलावी छाया दिखाकर उसने नारी को गलत दिशा मे 'आगे वढाने' की कोशिश की है और नारी भी पुरुष के हृदय मे छिपी हुई 'शरारत' को भली भाँति न पहचान सकने के कारण उस ओर चल पड़ी है। हम नही कहते कि पुरुष नारी का शत्रु है। पर जिस पुरुष ने नारी को सदियो तक अपनी दासी और मन बहलाने की गुडिया वना कर रक्खा है, वह उसका प्रथम श्रेणी का हितू कव और कैसे हो सकता है? जहाँ तक समाज और अधिकारो का प्रश्न है, पुरुष नारी का प्रतिस्पर्धी है। उसके चगुल से मुक्त होने का उपाय नारी को स्वय सोच निकालना है। यह भ्रम या नासमझी नही तो क्या है कि नारी यह विश्वास कर वैठी है कि पुरुष स्वय उसे अपने चगुल से मुक्त होने का गुर वतायगा। पुरुष ने कहा—'शुभे! हम तुझे पूजेगे, तेरा आदर करेगे, तू हमारे घर की लक्ष्मी है, हम तुझे समाज मे अपने वरावर स्थान और अधिकार देगे!' इस लुभावने वाक्-जाल मे फँस कर नारी ने अपने ऊपर उठने और आगे वढने का प्रयत्न एक प्रकार से छोड दिया है। आज

वह पुरुष का हाथ पकड कर जिस ओर वढी जा रही है, उस ओर जाने मे उसकी अपेक्षा पुरुष का ही स्वार्थ अधिक हे। हमारा अपना तो यह खयाल है कि पश्चिम की सभ्यता और वहाँ की वस्तु-स्थिति भारतीय नारी को आगे वढने मे न तो विशेष सहायता दे सकेगी और न उसका उचित रीति से मार्ग-प्रदर्शन ही कर सकेगी। अस्तु—

नये युगकी वननेवाली सभ्यता ने नई रोशनी ने, जीवन के नये दृष्टिकोण ने जहाँ नारी मे आगे वढने और ऊपर उठने का अदम्य उत्साह, अपार साहस और असीम महत्वाकाक्षा को उत्पन्न किया है, वहाँ उसमे कुछ ऐसे विषैले कीटाणु भी छोड़ दिये हैं—या ये स्वय उत्पन्न हो गये है—जो आगे चल कर शायद 'अनिष्ट' का रूप धारण करे। यह हम कोई भविष्यवाणी नही कर रहे, वल्कि सिर्फ यही कह रहे है कि आसार कुछ ऐसे ही नजर आते है। सम्भव है, वहुत से भाई और वहन—विशेष कर वहने—शायद हमारे इस कथन से सहमत न हो। जो कुछ भी हो, हम चाहते हैं कि जीवन के जिस भी क्षेत्र मे नारी आगे पॉव वढाये, वह पहले भलीभॉति विचार ज़रूर कर ले।

नारी, विवाह और समाज

कुछ समय पूर्व—'चॉद' मे श्री सन्तरामजी बी० ए० ने 'हिन्दू-समाज पर वैवाहिक-सकट'-शीर्षक लेख लिखकर देशका ध्यान जीवन और समाज की एक अतीव महत्वपूर्ण समस्या की ओर आकृष्ट किया था। उसमे विद्वान लेखक ने बहु-विवाह से समाज को होनेवाली हानि की ओर सङ्केत करते हुए बतलाया है कि तलाक की प्रथा जारी किये बिना एक पत्नीत्व की प्रथा चल ही नही सकती। पर लेखक महोदय ने कदाचित् तलाक और बहु-विवाह के मूल कारण पर प्रकाश डालने की कृपा नही की है। वह है हिन्दू-समाज की मौजूदा दूषित विवाह-प्रणाली। आजकल होने-वाले विवाहो मे से ६० प्रतिशत एकदम विफल रहते है। बजाय इसके कि हम अधाधुन्ध विवाह करके फिर उसे जैसे-तैसे निभाने की कोशिश करे और यह आशा करे कि उसकी प्रतिक्रिया दु ख और दुराचार के रूप मे न हो, क्या ही अच्छा हो अगर हम उसे अधिक सोच-समझ कर करे और प्रतिकूल प्रतिक्रिया की सम्भावना ही कम कर दे।

नारी की पराधीनता

हिन्दू-समाज पर वैवाहिक सङ्कट आज से नही, एक लम्बे युग से आया हुआ है। जिन किवदन्तियो पर हमारे जातीय इतिहास का आधार है, वे इतिहास के लिये विचक्षण भले ही हो, पर दरअसल हमारी बुद्धिहीनता और विचार-शून्यता की ही द्योतक है। विवाह-प्रणाली के दोषयुक्त और विश्रृङ्खल होने का एक बहुत बडा कारण है हमारे समाज मे स्त्रियो की पराधीनता और स्वय उनका परावलम्बन। कहने के लिये हमारे यहाँ स्त्रियो की पूजा भी होती रही है, उनका आदर भी होता रहा है, उन्हे

आजादी भी खूब रही है, पर अगर जरा बारीकी से देखा जाय, तो पता चलेगा कि इस सब ढोंग की तह मे रहा है पुरुष का स्वार्थ, उसकी अधिकार-लिप्सा और नारी को अपने पाँव की जूती या ढोर, गँवार और पशु की श्रेणी में रखने की अमानुषिक प्रवृत्ति। इसीलिए उसने उसे अपने विलास और सम्पन्नता के लिये मनचाहे ढङ्ग से बेचा, खरीदा, रक्खा, निकाला —गुडिया की तरह सजाया या भिखारिन बना कर घर से बाहर निकाल दिया। वह युग शिक्षा और सभ्यता का नही, पशु-बल का था, जिसमे प्रकृति ने ही नारी को पुरुष से दुर्बल और हीन बनाया था। अपने स्नेह और कोमलता से वह पशु-बल के धनी परुष-हृदय पुरुष पर विजय नही प्राप्त कर सकी, बल्कि उसे पाशविकता की वेदी पर असहाय और विवश होकर अपनी तरुणी मानवता का बलिदान कर देना पडा। आप इसे नैतिक कहे या अनैतिक, पर थी यह नारी की पराजय। इस पराजय ने न सिर्फ उसके शरीर को, बल्कि मन को भी दुर्बल और साहसहीन बना दिया। उसने पुरुष की अधीनता को ही अपना सौभाग्य समझा। इसी का परिणाम है कि आज उसे इस अभिशाप से छुटकारा पाने के लिये अनथक परिश्रम करना पड रहा है और अभी बहुत दिन करना पडेगा।

उसकी इस विवशताजन्य पराधीनता का पुरुष ने पूरा-पूरा लाभ उठाया और उसे सदा के लिये अपना गुलाम बनाये रखने को धर्म-विधान रचा। शास्त्र कहे जानेवाले यह ग्रन्थ मानवता के कलङ्क तो है ही, साथ ही पुरुष की नीचता, स्वार्थपरता और बुद्धि-भ्रष्टता के सबसे बडे प्रमाण भी है। फिर मनु और तुलसीदास-जैसे भ्रम फैलानेवाले लेखक इस पर धर्म का रङ्ग चढाने को मिल गये। नारी को कब और क्या पढाया जाय, क्या खिलाया और क्या पहनाया जाय, कब और किससे उसका विवाह किया जाय, इस सब के निर्णय का एकाधिकार अपने लिये सुरक्षित करके पुरुष ने उसे एकदम पगु बना दिया है। उसके टुकड़ो पर पलनेवाले धर्म-गुरुओ और पुरोहितो ने इसे विधाता का लेख बनाने के

लिये लिख दिया कि बचपन मे नारी (कन्या) पिता के, युवावस्था मे पति के और वृद्धावस्था गे पुत्र के अधीन रहे !' कितना सुन्दर विचार और ऊँचा विधान है ! गोया स्त्री कैसी ही सती, साध्वी और सदाचारिणी क्यो न हो और पिता, पति अथवा पुत्र कहा जानेवाला पुरुप कितना ही दुर्बुद्धि, दुराचारी और पतित क्यो न हो, रहना उसे उसी के अधीन होगा, क्योकि स्वतत्र तो वह बचपन से बुढापे तक हो ही नही सकती !

स्वयम्बर की विडम्बना

इसी स्वार्थ के कीडे पुरुप ने उसके विवाह के लिये भी मनमाना विधान बना दिया। जहाँ विवाह जीवन के विकास का एक सुखद प्रकरण होना चाहिये, पुरुष ने स्त्री के लिये उसे एक बन्धन वना दिया। पिता कहे जानेवाले पुरुप ने जिससे चाहा, लडकी को ब्याह दिया, भले ही फिर वह जन्म भर झीकती रहे। प्राचीनता के हिमायती प्राय. स्त्रियो की वैवाहिक स्वतन्त्रता की दुहाई देने के लिये 'स्वयम्बर' का प्रमाण दिया करते है। पर सच तो यह है कि वह अपने स्वार्थ और नीचता पर पर्दा डालने की पुरुष की एक विडम्वना-मात्र है। कन्या को ऐच्छिक वर मिले, इस दृष्टि से पुरुप सदा वाधक सिद्ध हुआ है। उसने उसके लिये वर ढूँढते समय सदा अपनी प्रतिष्ठा और वैभव का खयाल पहले रक्खा है और कन्या के सुख-सामजस्य का वाद मे। सती के स्वयम्वर मे शिव का और सयोगिता के स्वयम्वर मे पृथ्वीराज का न बुलाया जाना इस कथन के प्रमाण है। फिर स्वयम्वर मे वे ही लोग वुलाये जाते थे, जो पराक्रम और वैभव मे कन्या के पिता से वडे या समान हो, नीच न हो। ऐसे व्यक्ति ही कन्या के उपयुक्त वर हो सके, यह कोई तर्क नही और न इसमे अक्लमन्दी का ही कोई अश है। राम को शिव का धनुष तोडने के कारण और अर्जुन को तेल मे परछाई देखकर मछली की आँख मे तीर मारने के कारण अद्वितीय पति समझा गया ! अगर जीवन मे धनुप तोडने और मछली की आँख

मे निशाना लगाने का ही एकमात्र काम उस समय रहा हो, तब तो हम जनक और द्रुपद की वाकई हृदय से प्रशसा करेगे। पर अगर जीवन मे इसका गौण तथा प्रधान स्थान और-और बातो का रहा हो, तो कहना पडेगा कि यह सब बौडमपन से अधिक कुछ भी नही था। माना कि उस समय कलम का स्थान तलवार ने ले रक्खा था, पर केवल पशु-बल पर रीझ कर ही कन्या के जीवन की लॉटरी लगाना अक्लमन्दी नही कहा जा सकता।

वर्त्तमान दूषित विवाह-प्रणाली

स्त्री का सरक्षक बनने का मोह पुरुष आज भी नही छोड सका है। स्त्री की आर्थिक और बौद्धिक विवशता ने उसकी इस विडम्बना को जीवित रखने मे और भी सहायता की और कर रही है। आज उसके लिये वर पुरुष ही खोजता है और वही उसकी योग्यता अथवा पात्रता का निर्णय करता है। विवाह से पूर्व कन्या को अपने भावी पति के विचारो, रुचि और आदतो से परिचित होने का मौका मिलना तो दूर रहा, देखने तक का मौका नही मिलता। विवाह के बाद वर अच्छा हो या बुरा, उसे इच्छा या अनिच्छापूर्वक सारा जीवन उसीके साथ बिताना पडता है। इस विवाह के औचित्य पर न्याय और धर्म की मोहर लगाने के लिये हिन्दू-कानून भी मौजूद है, जिसके अनुसार स्त्री अपने पति को छोड नही सकती—पति भले ही उसकी कुत्ते से भी बुरी दुर्गत करे तथा चाहे जितनी शादिय और कर ले। यह पक्षपात और अनौचित्य ही वर्त्तमान विवाह-प्रणाली का सबसे बडा दोष है। Q Prob

स्वयम्बर के जमाने की बात और निशानेबाज़ी की परीक्षाएँ आज नही रही। जनक और द्रुपद के वशधर आज यह देखते है कि लडके के घर मे जायदाद या ज़मीदारी है या नही, वह सरकारी मुलाजिम है या नही, कुल और घर अच्छा है या नही, कोठी, मोटर या रेडियो वगैरा हो तो कहना ही क्या है! बस, लड़की को उससे ब्याह देते है, फिर चाहे

वह नपुन्सक, चिर-रोगी, शरावी, दुराचारी और कुछ भी क्यो न हो। इस तरह जायदाद, द्रव्य और कुलीनता से लडकी के पिता की शान तो जरूर रह या बढ जाती है, पर लडकी का जीवन नरक से भी वुरा हो जाता है। वह लज्जा और सङ्कोच के मारे न विवाह से पहले कुछ कह सकती है और न वाद ही मे। न-मालूम कितनी लडकियो का जीवन इस प्रकार नष्ट हुआ और हो रहा है। लडके तो आजकल यह कहने भी लगे है, कि हम शादी से पहले लडकी को देखेगे, पर लडकियो के लिये तो यह उनकी शालीनता, साहस और सद्गुणो की सीमा के वाहर की बात है। अगर साहस करके कोई लडकी ऐसा कहे भी, तो निर्लज्ज और विगडी हुई वताकर उसका समाज मे रहना मुश्किल कर दिया जाता है। कुछ लडकियो ने साहस कर बूढे, खूसट या रोगी व्यक्तियो से विवाह करने से इन्कार जरूर किया है, पर केवल अपवाद-स्वरूप। लाखो का जीवन तो वनावटी लज्जा और सङ्कोच के कारण प्रतिदिन नष्ट होता ही है।

बहुविवाह क्यों होते है ?

यदि हम अपने समाज मे होनेवाले विवाहो की असगति और वेहूदगी को ठीक-ठीक समझ ले, तो विवाह के कारण को समझने मे हमे विलम्ब नही होगा। ऊपर हम कह आये है कि हमारे यहाँ विवाह वर और वधू की इच्छानुसार नही, बल्कि उनके माता-पिता या सरक्षको की इच्छा से होते है। ऐच्छिक विवाहो मे समाज एक वहुत वडा अवरोध रहा है। लडके और लडकी के वीच मे विवाह से पूर्व समाज की एक वहुत मोटी और ऊँची दीवार खडी रहती है। जव वह हटती है, तो वे दो अपरिचित व्यक्ति अपने-आपको एक-दूसरे से विवाह के उस बन्धन मे बँधा पाते है, जिसमे विच्छेद कानूनन निषिद्ध है। फिर उनमे कितना ही शारीरिक अथवा मानसिक विपर्यय क्यो न हो, पसन्द या नापसन्द करने का अधिकार उनसे छिन जाता है और उनके सामने केवल एक यही विकल्प रह जाता

है कि जैसे-तैसे जीवन-भर निभा ले जायँ। समाज द्वारा जबर्दस्ती थोपे गये इस सयोग को वहुत-से तो जैसे-तैसे लड-झगड कर या मन मार कर निभा ले जाते है, पर वहुत-से वीच ही मे विफल हो जाते है। यह असन्तुष्ट और तङ्ग आया हुआ वर्ग ही दुवारा या तिवारा विवाह करता है।

राजा-रईसो की वात जाने दीजिए। विना परिश्रम के मिलनेवाला अपार द्रव्य उन्हे सुरा और सुन्दरी की विभिन्नताओ का खोजी वना देता है। वे वहु-विवाह करके या रखेलियाँ रखकर अपनी उद्दीप्त हुई काम-वासना की तृप्ति के लिए न-मालूम कितनी ललनाओ का जीवन नष्ट करते है। पर इसे हम विवाह या गार्हस्थ्य की श्रेणी मे परिगणित नही कर सकते। किन्तु साधारणतया जिसे जीवन-निर्वाह के लिये परिश्रम करना पडता है, जिसके जीवन का उद्देश्य केवल Eat, diink and be maiiy ही नही कुछ और भी है, जो विवाह को केवल काम-वासना की तृप्ति का कानूनी पासपोर्ट ही नही समझता, जिसके लिए विवाह न 'सव-कुछ है' और न 'कुछ भी नही', वह स्वभावतया एक से अधिक जीवन-साथी की इच्छा कर ही नही सकता। पर इस सम्वन्ध मे यह विचारणीय है कि वह साथी जीवन का सच्चा साथी होना चाहिए, हाड-मास का निर्जीव पुतला नही। विवाह-द्वारा पति और पत्नी मे जिस स्नेह और 'स्व' का आदान-प्रदान होता है, उसमे किसी तीसरे या चौथे हिस्सेदार के लिए कोई स्थान ही नही है। सुखी और सन्तुष्ट पति-पत्नी के लिए दूसरे विवाह या दूसरे से वैसा सपर्क स्थापित करने की कल्पना करना ही पाप है। अत यह कहना कि मनुष्य शान या शौक के लिए एक से अधिक विवाह करता है, मानव-मनोविज्ञान को न समझना है। शान और शौक के लिए जो एक से अधिक विवाह करते है, वे देहधारी मनुष्य होने पर भी पशु है, वासना के कीडे है। पर जो लोग समाज के अन्याय, अविचार और ज्यादती के शिकार है, जो समाज-द्वारा थोपे गये विवाह पर आत्मार्पण की मोहर नही लगा सके, वे क्रोध, घृणा और उपेक्षा के नही वल्कि दया, सद्भाव और सहानुभूति के

पात्र है। श्री सतराम जी ने जिन बहु-विवाहो का उल्लेख किया है, उन्हें समाज के इसी अन्याय, अविचार और ज्यादती की प्रतिक्रिया समझ कर हम उनके साथ सहानुभूति ही प्रकट करेगे।

समाज है क्या ?

जो भीतर और बाहर से एकरङ्ग है और रहना चाहते है, जिन्हें अपनी कमज़ोरी को छिपाने के लिये ईश्वर और धर्म की शरण लेने की आवश्यकता प्रतीत नही होती, जो व्यक्ति और समष्टि के सम्बन्ध को दलालो का सौदा नही समझते, उनके लिये यह विचारणीय है कि 'समाज' कही जानेवाली चीज आखिर है क्या ? पाठक जरा बारीकी से 'समाज' के सस्थापको, समर्थको और स्तम्भो की असलियत पर नज़र डाले। अगर उनकी अन्तर्दृष्टि और विवेकबुद्धि धोखा नही देती, तो वे अवश्य इस निर्णय पर पहुँचेगे कि समाज पतितो और स्वार्थियो के एक गिरोह से अधिक कुछ भी नही है। वह दुराचार का दुर्दम दुर्ग, अन्याय का अँधेरा आगार और बुद्धिहीनता का बहुत बडा चिडियाघर है। वह उन स्वार्थियो का अड्डा है, जो बिना श्रम किये, बिना योग्यता और पात्रता के धर्म, ईश्वर, न्याय और समाज के हित की दुहाई देकर पाप की कमाई खाना चाहते है। उसमे एक पत्नी के रहते अनेक स्त्रियो से अनुचित सम्बन्ध रखनेवाले और बहन या पुत्र-वधू तक को अपनी काम-वासना का शिकार बनानेवाले अमीरो, 'बडे' आदमियो और सुफेदपोश सुधारको के लिये स्थान है, पर जिसका द्वार खुल्लम-खुल्ला अपनी इच्छा की शादी करके सद्गृहस्थ का जीवन बितानेवाले, ढोग, मक्कारी और घूसखोरी से घृणा करनेवाले सच्चरित्रो के लिये सदा बन्द है! विवाह के लिये स्त्री के शरीर और पुरुष की वासना की दलाली करनेवाले इन हृदय और आत्मा-विहीन लोगो का लाइसेन्स आखिर किस मर्ज की दवा है ? अगर इन लोगो का हृदय टटोल कर देखा जाय, तो पता चलेगा कि बाहर के ये सुफेदपोश सुधारक

भीतर से कितने काले और घृणास्पद एव अवाछनीय चरित्र के है ? हमारे कहने का अभिप्राय केवल यही है कि हमे किसी चीज, व्यक्ति या वात की वुराई-भलाई का निर्णय करने के लिये ऐसे समाज की आड नही लेनी चाहिये। ऐसी कच्ची और थोथी नीव पर खडे समाज से इतने वडे उत्तर-दायित्व का वोझ सम्हल भी कैसे सकता हे ? मिथ्या और कल्पित आधार पर महल कैसे खडा किया जा सकता है ? यह तो एक धोखे की टट्टी है। इससे वुरे-भले के विवेक की आशा क्या और क्यो की जाय ?

एक जगह श्री सतरामजी ने लिखा है—"फिर जो अवस्थाएँ ऐसी हो कि उनको (?) दूसरी पत्नी करने की अनुमति देने मे समाज की कोई हानि न हो, उन्हे अनुमति देने मे कोई आपत्ति न होनी चाहिये। यदि ऐसा नही किया जायगा, तो समाज मे घोर अनाचार और अत्याचार फैलेगा।" पर समाज विशिष्ट अवस्थाओ मे दूसरी पत्नी करने की आज्ञा देता है या नही, इसके सम्वन्ध मे कोई निश्चित मत स्थिर नही किया जा सकता। जो सम्पन्न है, प्रतिष्ठित है और चार आदमियो को टुकडा फेक कर या मुट्ठी गरम करके अपने साथ कर सकते है, उन्हे समाज से सव-कुछ करने की अनुमति मिल जाती है, या यो कहिये कि उनके हर वद और नेक फेल पर समाज अपनी स्वीकृति और अधिकार की मोहर लगा देता है। मुश्किल तो उन 'गरीव' कहे जानेवाले साधारण लोगो की है, जिनके विचारो और कार्यो के वीच मे पाखण्ड, दिखावा, जालसाजी और दावते देने या मुट्ठी गरम करनेवाली 'नीति' की दीवार नही खडी है। जो मन, वचन और कर्म से सर्वथा सच्चे और पवित्र है, पर जिन्हे ज़माने-साजी और चरित्रहीनता पर मुलम्मा चढाने का आर्ट नही आता है, ऐसे लोग न सिर्फ समाज के अपवाद ही है, वल्कि उसके अन्याय और अत्याचारो से सवसे अधिक पीडित, सत्रस्त और अभागे शिकार भी है। यहाँ हमे अपने एक परिचित रायसाहव का स्मरण हो आता है, जिन्होने अपनी पत्नी के जीते जी उसी की छाती पर अपनी विधवा किन्तु रूपवान पुत्र-वधू को अपनी

'प्रेयसी' वना रक्खा है। यह वात सव जानते है, पर कोई कहता कुछ इस लिए नही कि रायसाहव से वहुतो का काम निकलता है। न्याय, धर्म और समाज के ठेकेदार कह देते हैं कि हमे किसी के खानगी जीवन से क्या लेना है ? कोई कह देता है—यह सव दिल मिले की बात है, हम क्यो किसी के वीच मे पड़े। किन्तु दूसरी ओर एक सुशिक्षित और सुधारवादी युवक है, जिसने न सिर्फ जात-पॉत तोड कर वल्कि कुमार्ग से वचाने के लिए एक वेश्या की कन्या से कानून और धर्म के अनुसार विवाह कर लिया है। लेकिन कहे जानेवाले समाज ने उसका जीना भी हराम कर रक्खा है। उस वेचारे को न कही नौकरी मिलती है और न रहने को सलीके का मकान ही। सर्वत्र उसकी निन्दा, उपेक्षा और भर्त्सना होती है। समाज के ठेकेदार कहते है कि उसने रण्डी की लडकी से शादी करके अपने कुल को कलङ्क लगा दिया, अपने पुरुषो की मान-मर्यादा पर पानी फेर दिया, विवाह के पवित्र आदर्श को नष्ट कर दिया आदि। ऊपर के इन दो उदाहरणो के देने का हमारा एकमात्र उद्देश्य यही है कि पाठक जरा समाज की बुद्धि और दुर्बुद्धि का तथा उसके न्याय और अन्याय का विवेचन करे। ऐसी दशा मे समाज की अनुमति मिलने और न मिलने का अर्थ क्या है ? उसकी वास्तविक हानि किस वात मे है और लाभ किस मे, यह भी इसी प्रवृत्ति से आँका जा सकता है। फिर क्या हम समाज की स्वीकृति-अस्वीकृति को अपने समाज के और देश के हित की कसौटी मान सकते है ?, स्पष्ट रूप से हम समाज के अस्तित्व और अधिकारो को चुनौती दे रहे हैं। उसके न्याय को सिर झुका कर मान लेना बुद्धि को तिलाञ्जलि देना है।

विवाह और समाज

तो स्वभावत यह प्रश्न उठता है कि एक पत्नी के होने या न होने पर विवाह करने के लिए समाज की अनुमति क्यो ली जाय ? क्या यह जरूरी है ? हम नित्य-कर्म तो समाज की अनुमति से नही करते। खाना-पीना

और व्यापार-व्यवसाय भी समाज से पूछ कर नही करते। सन्तान की उत्पत्ति और मृतक का दाह-सस्कार भी समाज से पूछ कर नही करते। फिर विवाह के लिए ही उसकी अनुमति ज़रूरी क्यो—चाहे यह पहला हो या दूसरा। पाठक कह सकते हैं कि अगर हर आदमी मनमानी करने लगे, नियम और सयम को ताक मे उठा कर रख दे, तो वडा अनाचार और अराजकता फैल जायगी। यह ठीक है, पर केवल सीमा-हीन और असाधारण स्थिति मे ही ऐसा होगा। किन्तु हम तो जिक्र कर रहे है हमारे दैनिक जीवन की साधारण स्थिति का। समाज की असलियत हम ऊपर दिखा चुके है। ऐसी दशा मे विवाह की ज़िम्मेदारी उस पर डालना और उसे अनावश्यक महत्व देना समझ मे न आनेवाली वात है। विवाह एक वैयक्तिक चीज है। उसमे वननेवाले पति और पत्नी के सिवा किसी तीसरे व्यक्ति के प्रतिनिधित्व या वकालत की जरूरत या गुजाइश हम नही देखते। इन दो व्यक्तियो के वीच मे जवर्दस्ती समाज को घुसेडने का स्पष्ट अर्थ यही है कि होनेवाले सम्वन्ध की जड मे प्रत्यक्ष या परोक्ष, जाने या अनजाने मे, काँटे वोये जा रहे हैं। इसका प्रमाण वे हज़ारो-लाखो असफल और रोमाञ्चकारी दुष्परिणामोवाले विवाह है, जो समाज की स्वीकृति के प्रमाणपत्र को लेकर हुए है। विवाह शारीरिक और मानसिक साहचर्य के लिए एक साथी को चुनना-मात्र है। पर न-मालूम क्यो, हमने इसे एक हौआ-सा वना दिया है। आज तो इसके आगे-पीछे धर्म और समाज के इतने पुछल्ले लगा दिये गये है कि यह एक खासा अच्छा तमाशा वन गया है। इसे तमाशा वनाने की जिम्मेदारी है कहे जानेवाले समाज पर, जिसने अपना अस्तित्व और अधिकारो को सुरक्षित रखने के लिए इसे आर्थिक और सामाजिक ताने-वाने का मायाजाल-सा वना दिया है। आज तो वदकिस्मती से यह हमारे जीवन की सवसे वडी और खर्चीली समस्या वन गई है। जो लोग इसे असाधारण महत्व नही देते, खूब खर्च नही करते और इसका ढिढोरा नही पीटते, उनको समाज क्षोभ और सन्देह

की दृष्टि से देखता है। उनकी कुलीनता और 'असलियत' (न-मालूम यह क्या बला है ?) तक में शक किया जाता है और उन्हें बड़ी नीचता और कमीनेपन से बदनाम किया जाता है। नौजवानों और नवयुवतियों के साथ यह कितनी बड़ी ज्यादती और कितना भारी अन्याय है कि या तो वे समाज कहे जानेवाले गुट्ट के न्याय और निर्णय के सामने बिना हील-हुज्जत के सिर झुका दें, अन्यथा उनका जीना दुश्वार कर दिया जाता है।

बहु-विवाह-विरोधी कानून

समाज के ठेकेदारों द्वारा होनेवाली तीव्र भर्त्सना और थोथे आन्दोलन के अलावा दूसरा प्रयत्न बहु-विवाह को कानून से रोकने के लिए किया जा रहा है। जिन महानुभाव ने केन्द्रीय-असेम्बली में इस विषय का बिल पेश किया है, उनसे हमें पूर्ण सहानुभूति है। उनके इस प्रयत्न को आदर और प्रशंसा की दृष्टि से देखा जायगा, ऐसा हमारा अनुमान है। किन्तु रक्त-विकार के कारण शरीर पर उठ आनेवाले चकत्तों को केवल मरहम लगाकर ठीक नहीं किया जा सकता। उनका इलाज तो उस रक्त की शुद्धि है, जिसके बिगड़ जाने से उनका जन्म हुआ है। उनका अस्तित्व केवल चमड़ी पर ही नहीं है, बल्कि उनकी जड़ें शरीर के खून तक है। इसी प्रकार हमारा खयाल है कि बहु-विवाह को केवल कानून से रोका नहीं जा सकता। उसका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। वह मौजूदा दोषपूर्ण विवाह-प्रणाली तथा समाज की असंगति एवं विकृति की एक प्रतिक्रिया-मात्र है। अतः उसे रोकने का सबसे उत्तम और प्रभावपूर्ण ढङ्ग यही है कि समाज और विवाह-प्रणाली को सुधारा जाय। जिसे हम अपने हृदय की गहराई से बुरा नहीं मानते और रोकने की कोशिश नहीं करते, उसे कानून एकदम रोक सके, यह अनुभव और अनुमान के विरुद्ध है। शारदा-कानून इसका प्रमाण है।

उपसहार

तो प्रश्न यह उठता है कि आखिर किया क्या जाय ? इसका उत्तर साफ सीधे शब्दो मे हम यही देगे कि मौजूदा विवाह-प्रणाली को सुधारा जाय और समाज के हाथो से उसके एकाधिकार को छीन कर विवाह करनेवालो को सौपा जाय। वनावटी शर्म और सङ्कोच को धता वता कर युवक-युवतियो को अपनी इच्छानुसार विवाह करने के लिए आगे वढना चाहिए। जीवन का साथी चुनने मे ऐसी कौन सी वुराई है कि शर्म की जाय ? इच्छानुसार होनेवाले विवाहो से वहु-विवाहो की वुराई स्वत मिट जायगी और समाज मे होनेवाले वहुत से पाप रुक जायँगे। कानून या उपदेश वहु-विवाह, दुराचार और अन्यान्य वुराइयो को पूरी तरह से नही रोक सकते। इच्छानुसार किये गये विवाह स्थायी और सुखदायक होगे, ऐसा हमारा विश्वास है। क्या हम आशा करे कि देश के युवक और युवतियाँ इस पर गौर करेगे ?

हिन्दू-स्त्रियों को तलाक़ का अधिकार

१६३६–४० मे केन्द्रीय असेम्वली मे पेश किए गए डॉ० देशमुख के हिन्दू-स्त्रियो को तलाक का अधिकार दिलाने के विल की देश मे काफी चर्चा हो चुकी है। पाठको को उसके प्रस्तावो की मोटी जानकारी होगी, यही समझ कर हम यहाँ उन्हे दोहरा नही रहे है। केन्द्रीय असेम्वली मे उस विल की जो दुर्गत हुई, उसका हाल भी पाठक यथासमग्र दैनिक-पत्रो मे पढ चुके होगे। विल की दुर्गत से हमारा तात्पर्य यह कदापि नही है कि सरकार का रुख उसके प्रति उत्साहवर्द्धक नही था, या किसी दल-विशेष ने उसके सिलेक्ट-कमेटी के सुपुर्द किये जाने का विरोध किया, बल्कि इससे हमारा तात्पर्य है उन लोगो का विरोधी और उपेक्षापूर्ण रुख, जिनके अर्द्धाङ्ग कहे जानेवाले एकमात्र पीडित समाज के लिए ही इसे कानून का रूप देने के लिए केन्द्रीय असेम्वली मे पेश किया गया था।

सरकार के तत्कालीन गृह-सदस्य श्री थॉर्न ने बिल के सम्वन्ध मे सरकार का रुख वतलाते हुए कहा कि असेम्बली के गत अप्रैल के अधिवेशन मे भूतपूर्व कानून-सदस्य सर नृपेन्द्रनाथ सरकार ने अपनी योग्यतापूर्ण वक्तृता द्वारा विल के प्रति सरकार का जो रुख स्पष्ट किया था, वह अब भी कायम है और आगे भी रहेगा। आपको सवसे बडी शिकायत बिल के खिलाफ यह रही है कि उसे पेश करनेवाले (यानी स्वय डॉ० देशमुख) के सिवा असेम्वली के एक भी हिन्दू-सदस्य ने विल का समर्थन नही किया। डॉ० देशमुख ने भी विल के सम्वन्ध मे जो-कुछ कहा, वह उनकी पार्टी (काग्रेस) की राय न होकर उनकी अपनी और उन्ही के विचारो के कतिपय सुधार-प्रिय व्यक्तियो की ही राय थी। आपने कहा कि यदि काग्रेस-पार्टी विल पर अपना मत प्रकट करती, तो उसमे भी वही असम्वद्धता होती, जो बिल

पर प्रकट किये गये समाचारपत्रों और असेम्बली-सदस्यों के मतों में है। आगे चल कर आपने बतलाया कि बिल का समर्थन असेम्बली के मुस्लिम-सदस्यों ने ज़रूर किया है तथा इसकी कुछ प्रशंसा उन लोगों ने भी की है, जिन पर इसका पास हो जाने पर कोई भी असर नहीं पड़ेगा।

हिन्दू-सदस्यों का विरोध

स्थानाभाव के कारण ऊपर हमने जो-कुछ दिया है, वह सरकार के गृह-सदस्य का अविकल भाषण न होकर उनके भाषण का सारांश-मात्र है। पर इससे यह जानने में शायद कोई कठिनाई न होगी कि सम्बन्धित बिल का विरोध सरकार या असेम्बली के यूरोपियन अथवा मुस्लिम-सदस्यों द्वारा न होकर केवल हिन्दू-सदस्यों द्वारा ही हुआ। जरा और आगे बढ़ कर हमें यह भी कहना चाहिए कि कांग्रेस-पार्टी ने बिल के बारे में पार्टी के अनुशासन या बहुमत के दकियानूसीपन के कारण जो रुख अख्तियार किया, वह स्पष्ट विरोध या उपेक्षा न होते हुए भी परोक्ष रूप से बिल का विरोध ही था। उसके द्वारा बिल का समर्थन न होने से विरोधी-पक्ष प्रबल हुआ या विरोध का पलड़ा भारी हुआ, इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता। यह उस कांग्रेस पार्टी का रुख है, जो देश की सामाजिक उन्नति के लिए भी वचनबद्ध है।

स्वभावत प्रश्न उठता है कि हिन्दुओं (यानी हिन्दू-स्त्रियों) के लिए पेश किये गये एक समाज-सुधार के बिल का एक भी हिन्दू समर्थन न करे या अधिकांश हिन्दू विरोध करे, तो इसका मतलब क्या समझा जाय? क्या इसका मतलब यह समझा जाय कि असेम्बली के एक हिन्दू-सदस्य के दिमाग में कुछ फितूर था, या वह बेकार था, कि अपना समय और शक्ति लगा कर असेम्बली की वक्त खराब करने के लिए व्यर्थ मे एक इस तरह का बिल पेश कर दिया, जिसे वे ही नहीं चाहते जिनके लिए कि उसने इतना कष्ट उठाया? या क्या इससे यह समझा जाय कि असेम्बली के हिन्दू-

सदस्य हिन्दुओ के असली प्रतिनिधि नही हैं और दकियानूसी विचारवाले होने के साथ-ही-साथ पुरुष होने के नाते उन्हे स्त्रियो को तलाक का अधिकार देने या न देने का फैसला करने का कोई नैतिक अधिकार नही है ? या उससे यह समझा जाय कि डॉ० देशमुख हिन्दू-समाज को पतित और दुर्बल बनाना चाहते हैं और बिल का विरोध करनेवाले असेम्बली के हिन्दू-सदस्य ही हिन्दू-धर्म की मर्यादा की रक्षा तथा हिन्दू-समाज की उन्चता और उन्नयन के ठेकेदार है ?

हमारी समझ मे तो इन प्रश्नो का उत्तर शायद इन्ही मे है। अगर डॉ० देशमुख के पास बिल के समर्थन और प्रशसा मे देश के कोने-कोने से अधिकाशत स्त्रियो और महिला-सस्थाओ के आये हुए पत्र और देश के विभिन्न भाषाओ के पत्रो मे निकले लेख सब-के-सब झूठे या जाली नही हैं और उन सब के स्रष्टा स्वय डॉ० देशमुख ही नही है, तो यह कहना या मानना कि हिन्दू या हिन्दू-स्त्रियाँ तलाक के विरुद्ध है, अक्ल से भैस को बडा मानना है। जिनमे सहज-बुद्धि की अपेक्षा धर्मान्धता अधिक है और समझ के स्थान पर स्वार्थ का विस्तार और गहराई अधिक है, उनकी बात तो हम कहते नही, पर कोई भी समझदार हिन्दू या हिन्दू-स्त्री तलाक के अधिकार के खिलाफ हो, यह हम नही मान सकते। यह बात जरूर है कि इस तरह के समझदार व्यक्ति आज हिन्दू-समाज मे अल्प-सख्यको (minority) की स्थिति मे ही है, बहु-सख्यको (majority) की श्रेणी मे नही। पर इसमे समझ की अपेक्षा अधिक दोष और दुर्भाग्य है समाज का। इसके बावजूद यह तो कोई औचित्य नही कि चूँकि समाज का बहुमत स्वार्थ, नासमझी और धर्मान्धता का शिकार है, अत. उसके सारे नियम-कानून बरकरार रखे जायँ। यदि ऐसा हो, तब तो हरिजनो को मन्दिर-प्रवेश का और लडकियो को पढ-लिख कर जीविकोपार्जन करने का अधिकार भी क्यो दिया जाय, क्योकि हिन्दुओ का बहुमत ऐसा करने के खिलाफ है !

रही असेम्बली के हिन्दू-सदस्यो के विरोध की बात, सो उनके सम्बन्ध मे वैयक्तिक रूप से कुछ लिखना शिष्टता और उससे भी बढकर कानून की दृष्टि से शायद ठीक न होगा। यदि हम तलाक-विरोधी इन हिन्दू-सदस्यो में से एक-एक का अन्तर टटोले, उसके वैयक्तिक जीवन की छान-बीन करे, तो हम उसे दो मे से एक श्रेणी का पायेंगे। या तो वह ऊपर बताई हुई धर्मान्ध और दकियानूसी (orthodox) श्रेणी का होगा, जो धर्म और समाज के नाम पर तलाक के प्रस्ताव का विरोध करना अपना धार्मिक, नैतिक, सामाजिक और शायद पैतृक अधिकार समझता होगा, या फिर वह उस अवसर-सेवी श्रेणी का होगा, जिसे यह डर होगा कि तलाक का समर्थन करने पर भावी चुनाव मे कोई 'पक्का हिन्दू' वोट न देगा। पहली श्रेणी के सदस्य अगर घृणा, क्षोभ या दया के पात्र हैं, तो दूसरी श्रेणी के सर्वथा समाज और देश के साथ द्रोह एव विश्वासघात करनेवाले होने के नाते और भी उपेक्षा और घृणा के पात्र हैं। जिस देश और समाज के भाग्य का निर्णय करनेवाले ऐसे लोग हो, उसका ईश्वर ही मालिक है।

तलाक का अधिकार क्यो न हो ?

असेम्बली के इन अदूरदर्शी और सङ्कीर्ण-बुद्धि हिन्दू-सदस्यो से हम उन्ही के साथ बैठनेवाले एक समझदार मुस्लिम-सदस्य श्री० अजहरअली के इस प्रश्न का उत्तर चाहते है कि जो सुविधा या अधिकार दुनिया के सभी देशो और जातियो की स्त्रियो को प्राप्त है, वे एकमात्र हिन्दू-स्त्रियो को ही क्यो हासिल न हो ? अगर दूसरे मुल्को की स्त्रियो ने तलाक का अधिकार प्राप्त कर धर्म और समाज को रसातल नही पहुँचाया है, तो सदियो पहले मरे और निर्जीव हुए हिन्दू-धर्म तथा समाज को उससे क्या खतरा हो सकता है ? जो लोग तलाक-प्रथा के जारी होने से धर्म के नष्ट होने की आशङ्का करते है, समाज और घर की शान्ति नष्ट होने की कल्पना करते है, वे सच पूछा जाय तो परोक्ष रूप से यह सिद्ध करते है कि हमारे यहाँ अधर्म बढ

रहा है और घर तथा समाज की अशान्ति अपनी चरम-सीमा को पहुँच चुकी है। अगर उनका धर्म साबुन के पानी के गोले से ज्यादा मजबूत और जानदार नही है, अगर उनके घर और समाज की शान्ति जुए के अड्डो की रौनक से ज्यादा स्थायी नही है और उनकी अक्ल की गाडी मे हापड के पापडो से अधिक मजबूत पहियें नही लगे है, तब तो धर्म, समाज और देश का भला इसी मे है कि वे कल नष्ट होते हो तो आज ही हो जायँ। उनकी रक्षा के लिए शेखचिल्ली के वश-वृक्ष को अधिक फैलाने की जरूरत अब नही रही। अस्तु—

दुनिया के जितने भी सभ्य, स्वतन्त्र और समृद्ध देश है, उन सब मे स्त्रियो को तलाक का अधिकार प्राप्त है। किसी-न-किसी रूप मे धर्म वहाँ भी आखिर है ही। घर और समाज की शान्ति भी वहाँ थोडी-बहुत है ही। वहाँ के लोगो को भी इनकी वैसी ही जरूरत है, जैसी कि भारत-वासियो (या कह लीजिए हिन्दुओ) को है। फिर क्या कारण है कि वे आचार-विचार, शारीरिक और मानसिक शक्ति तथा सत्ता-समृद्धि मे हमसे कही बढे-चढे है? न उन देशो के सब पुरुष मजनू या तपस्वी है और न सब स्त्रियाँ वेश्याएँ या भिक्षुणियाँ ही। धर्म कही जानेवाली दुर्बुद्धि, बौडमपन, अकर्मण्यता, दुराचार और अमानुषिकता के अलावा वे इनसे किस बात मे कम है? अपने-आपको ससार का आध्यात्मिक गुरु और धार्मिक पुरुषा कह कर भी हम आज ससार के सबसे निम्न, निकृष्ट और पुराने गुलाम है, और वे जो कुछ है, हम देख ही रहे है। फिर समझ मे नही आता कि ऐसी कौन-सी बात है, कौन-सा कारण है, जिसके आधार पर सिर्फ हिन्दू-स्त्रियो को ही तलाक की सुविधा या अधिकार से वञ्चित रक्खा जाय? हमारी समझ मे तो नासमझी, अदूरदर्शिता और स्वार्था-न्धता के अलावा कोई ऐसा माकूल कारण, आधार या औचित्य नही देख पडता, जिसके सबब से हिन्दू-स्त्रियो के साथ होने वाली इस ज्यादती, अन्याय और अधिकारापहरण को जारी रक्खा जाय।

तलाक की आवश्यकता क्यों है ?

जो लोग यह कहते है कि तलाक तो किसी भी रूप में और किसी भी परिस्थिति मे जायज या जरूरी नही होना चाहिए, उनके दिमाग मे अगर निरा भुस नही भरा है, तो वे जरा इस बात पर गौर करे कि अगर वाकई यह जरूरी और जायज नही है, तो इसकी माँग क्यो है ? ससार के ९/१० भाग में आज इसका प्रचलन क्यो है ? हम माने लेते है कि उन्ही का कहना ठीक है और तलाक देना विल्कुल अनावश्यक और अधर्म है। लेकिन इसे कानूनन नाजायज करार देने के लिए उन्हे यह गारण्टी करनी होगी कि कही भी कोई विवाह दु ख, अशान्ति और असन्तोष का कारण न होगा। अगर यह हो सकना सम्भव है, तो फिर तलाक की जरुरत ही कहाँ रह जाती है ? सुख, शान्ति और सन्तोष को लात मार कर कौन स्त्री या पुरुष तलाक की इच्छा करेगा ? पर यह वात न सम्भव है और न कभी हो ही सकती है। सचाई तो यह है कि आज वहुत वडी सख्या मे विवाह दु ख, अशान्ति और असन्तोष का कारण हो रहे है। इसीलिए समझदार लोगो ने विफल-विवाहो की प्रतिक्रिया को विशेष घातक और व्यापक रूप धारण न करने देने के विचार से तलाक की औषधि निकाली है। अगर रोग नही है, तो अलवत्ता औषधि की कोई जरुरत नही। पर अगर रोग है, तो औषधि को अस्वीकार करना मौत को वुलाने और जिन्दा रहने से इन्कार करने के सिवा और क्या है ? अत धर्म और समाज का पल्ला पकड कर चिल्लाने से पहले हमे ठण्डे दिमाग से यह सोचने और समझने की कोशिश करनी चाहिए कि दरअस्ल तलाक की आवश्यकता है या नही ? अगर सचाई और ईमानदारी से हम यह महसूस करे कि गलती से होनेवाले या वाद मे विफल सिद्ध होनेवाले विवाहो की प्रतिक्रिया को एक सामाजिक खतरा वनने से रोकना जरूरी है और ऐसा करने के लिए विवाह करने-वालो का पृथक् हो जाना भी वुरा नही है, तो हमे इसकी आवश्यकता को स्वीकार करने मे झिझकना, शर्माना या डरना नही चाहिए, भले

ही फिर उसका नाम 'तलाक' हो या 'विवाह-विच्छेद' या और कुछ। लेकिन एक चीज़ की जरूरत का कायल होते हुए भी उसकी सञ्ज्ञा-विशेष से बिदकना सरासर मूर्खता है।

विवाह सहयोग और सद्भावना का एक सम्बन्ध या सौदा है। दूसरे शब्दो मे उसे हम दो विपरीत सेक्स के लोगो का घनिष्टतम मैत्री सम्बन्ध कह सकते है, जिसमे आपस के भेदो और पृथकता के लिए कोई गुञ्जाइश नही रह जाती। इसमे जितने आत्म-त्याग की भावना या मात्रा है, उतनी ही आत्म-तोप और प्राप्ति की भी। अपना सर्वस्व दूसरे को दे दो, पर उससे कुछ भी पाने की आशा न करो, क्योकि यह 'स्वार्थ' है—इस तरह की बात एक खासा लुभावना और मन को भला लगनेवाला आदर्श जरूर हो सकती है, व्यावहारिकता कदापि नही। मनुष्य मनुष्य है और रहेगा, देवता नही। स्वार्थ उसका स्वभाव है। इसी पर उसके जीवन और महत्वाकाक्षाओ का सारा दारोमदार है। मैत्री मे अगर स्वार्थ की भावना हो सकती है, तो वैवाहिक मैत्री मे अधिक से अधिक स्वार्थ की भावना है और होनी भी चाहिए। बिना इसके मानव का विकास सम्भव नही। पर यह स्वार्थ एकाङ्गी कदापि नही है। मानव सदा कुछ देकर ही उसके बदले मे पाने की इच्छा करता है। उस तरह का आदान-प्रदान सृष्टि के क्रम-विकास के लिए सर्वथा आवश्यक है। विवाह को धार्मिक या आत्मिक बन्धन मानना इस मैत्री सम्बन्ध को अनावश्यक, अनुचित और बाधक प्रतिबन्धो से जकड देना है। धर्म और आत्मा की दुहाई दिये बिना भी तो विवाह की उच्चता और पवित्रता को अक्षुण्ण रक्खा जा सकता है।

अगर हम यह मान कर चलते है कि विवाह विपरीत सेक्स के दो व्यक्तियो का एक सज्जनता का समझौता या सद्भावना और सहयोग का सम्बन्ध है, तो हमे इसके तोडने और फिर बनाने मे कोई खास मानसिक परेशानी न होगी। अगर साधारण मैत्री-सम्बन्ध पचासो बार टूट और बन सकते है, तो एक-दो बार जीवन के इस घनिष्टतम मैत्री-सम्बन्ध के

टूटने और फिर बनने से क्या गजब हो जायगा ? पर इससे हमारा तात्पर्य यह कदापि नही है कि जिस प्रकार मैत्री-सम्बन्ध रोज बनते और टूटते हैं, वैसे ही विवाह-सम्बन्ध भी नित्य बन और टूट सकते हैं। फिर मैत्री-सम्बन्ध तो हफ्ते मे ५-१० बन और टूट सकते हैं, पर विवाह-सम्बन्ध न इस प्रकार बनाये ही जा सकते है और न तोडे ही जा सकते हैं। इन दोनो सम्बन्धो को हम एक ही क्षितिज पर नही रख रहे है, किन्तु हम यह बतलाना चाहते हैं कि है दोनो मैत्री-सम्बन्ध ही। एक साधारण है और बिना किसी खास विचार के बन या टूट जाता है, और दूसरा काफी सोच-समझ कर, कई विशिष्ट बातो को ध्यान मे रखकर बनता है। अकसर हम देखते हैं कि विचार या स्वभाव न मिलने के कारण बहुत बार मैत्री-सम्बन्ध टूट जाते है या पहले जैसे आत्मीयतापूर्ण नही रहते। अगर यही बात न्यूनाश मे विवाह-सम्बन्ध मे भी हो, तो इसमे चौंकने की क्या बात है ? विवाह के बाद यदि यह मालूम हो कि पति-पत्नी एक-दूसरे को न तो अधिक-से-अधिक दे सकते है और न एक-दूसरे से अधिक-से-अधिक प्राप्त कर सकते है, या दोनो साथ रह कर पूर्णतया सुखी और सन्तुष्ट नही है, तो इसमे क्या बुराई है कि वे एक-दूसरे से पृथक् हो जायँ और चाहे तो बिना साथी के रहे और चाहे तो दुबारा कोई ऐसा साथी चुन ले, जो पहले साथी की अपेक्षा अधिक उपयुक्त हो।

यदि निष्पक्षता, नीति और न्याय की दृष्टि से देखा जाय, तो दुनिया मे सबसे अधिक तलाक की आवश्यकता हिन्दू-स्त्रियो को ही है, क्योकि विवाह उनके ६५ फीसदी अपनी इच्छा से नही होते, माता-पिता या अभि-भावक उन्हे अपनी छाती का बोझ हल्का करने के लिए किसी भी पुरुष कहे जानेवाले जीव के गले बाँध देते है और वे शील तथा सङ्कोचवश कुछ भी नही कह पाती। इस तरह के विवाह करके तलाक का न रखना ठीक वैसा ही है जैसा खूब मार कर रोने न देना। इसे पुरुष की बर्बरता और अमानुषिकता का सबसे निकृष्ट और हृदयहीन कृत्य न

और क्या कहा जाय ? जरा बारीकी से देखा जाय तो इस
इ मे हम पुरुष की कुत्सा और नैतिक पतन का ही आभास पायँगे। हमे तो आश्चर्य है कि आज सभ्यता के इस युग मे भी इस तरह की अमानुषिक ज्यादती को कायम रखने के लिए तलाक का विरोध करनेवाले लोग पर्याप्त सख्या मे मौजूद हैं।

हिन्दू-स्त्रियाँ क्या करें ?

पुरुष तलाक के क्यो विरोधी है, यह सदियो से हुए उनके नैतिक पतन और विकृत मनोवृत्ति के कारण आसानी से समझ मे आ सकता है। पर आश्चर्य और हैरत हमे उस समय होती है जब हम 'देवी' शब्द से पुकारी जानेवाली हिन्दू-समाज की पीडित और गुलाम स्त्रियो को भी नैतिक और धार्मिक आधार (?) पर इसका विरोध करते देखते हैं। उनका यह विरोध ठीक वैसा ही है जैसा जेल के उस पुराने कैदी का आजीवन वही रहने का आग्रह, जो बाहर की स्वतन्त्रता की अपेक्षा जेल की 'सुविधाओ' को अधिक समझने लगता है और बाहर जाने से इन्कार कर देता है। उसमे यह समझ ही नही रह जाती कि जेल-जीवन के मुकाबिले मे बाहर के जीवन का ठीक-ठीक मूल्य आँक सके। जब कुछ ही वर्षो की गुलामी आदमी की विवेक-बुद्धि खो देती है, तो सदियो की गुलामी, अनाचार और कूपमण्डूकता यदि भारतीय स्त्रियो को तलाक का विरोधी बना दे, तो इसमे आश्चर्य की बात ही क्या है ?

पर हमे यह न भूल जाना चाहिए कि इस तरह की धर्म-भीरु स्त्रियो की सख्या काफी है, यद्यपि उनका प्रभाव काफी नही है और न वे काफी शिक्षित ही हे। हिन्दू-समाज मे आज काफी स्त्रियाँ सुशिक्षित हैं। उन्ही की राय को हमे मूल्यवान समझना चाहिए और दरअसल हिन्दू-स्त्रियो के हित के लिए क्या जरूरी हे और क्या नही, यह निर्णय करने का अधिकार भी उन्ही को है। उनकी ओर से उनके लिए एक पुरुष तलाक का अधिकार

माँगे और कुछ पुरुष उसे देने से इन्कार कर दे, यह तो एक खिलवाड-सा लगता है। हमारी समझ मे तो तलाक स्त्रियो का जन्मसिद्ध अधिकार है। यदि आज भारतीय स्त्रियाँ उससे वञ्चित है, तो उन्हे स्वय अपने पाँवो पर खडे होना और उसे प्राप्त करना चाहिए। अपनी आज़ादी, सुख और सुविधा का अधिकार पुरुष से माँगने का मतलव तो यह है कि वे अपने-आपको पुरुष के अधीन और उससे कम योग्य समझती है। जव पुरुष और उनमे पूर्ण समानता का सम्वन्ध है, क्यो न वे स्वय अपने इस अपहृत अधिकार को प्राप्त करने की कोशिश करे ? वैसे तो तलाक का अधिकार उन्हे जन्म से ही प्राप्त है, पर चूँकि पुरुष ने हिन्दू-कानून, धर्म-शास्त्र और न जाने किन-किन ऊल-जलूल मन-गढन्त नियम-कानूनो का अडङ्गा खडा कर दिया है, उनके लिए इसे दूर करना निहायत जरूरी है। अच्छा हो यदि अखिल-भारतीय महिला-कॉन्फ्रेन्स इस काम को अपने हाथ मे ले और हिन्दू-स्त्रियो को तलाक का अधिकार दिलवाने के लिए देशव्यापी आन्दोलन करे।

लेकिन विवाह-विच्छेद का अधिकार प्राप्त करने से पहले तो हिन्दू-स्त्रियो को अभी विवाह करने का ही अधिकार प्राप्त करना चाहिए। इस समय सही मानो मे उन्हे अपने विवाह करने का भी अधिकार प्राप्त नही है। वे किसे अपने जीवन का साथी चुने, इसका निर्णय उनके माँ-वाप या अभिभावक करते है और वे दान की हुई गाय की भाँति जिस पुरुष को सौपी जाती है, उसीके पीछे चल देती है—फिर वह उन्हे चाहे पत्नी समझ कर रखे, चाहे गुडिया समझ कर खेले, चाहे वेश्या समझ कर अपनी काम-पिपासा शान्त करे या वच्चे पैदा करने की मशीन समझे। इस तरह जवर्दस्ती वनाये गये अपने अपरिचित पति के कव्जे से वे भाग न निकले, इसके लिए न्याय और नीति का आदर्श हिन्दू-कानून है, जिसमे तलाक नाम की कोई चीज ही नही है। उसके अनुसार पारस्परिक सहमति से अपवाद-स्वरूप विवाह टूट सकता है, लेकिन स्त्री को दूसरा विवाह करने का

मुतलक अधिकार नही है। उसके दिमाग मे कभी विवाह-विच्छेद या पुनर्विवाह (यहाँ हमारा मतलब है पहले पति के जीवित होते हुए दूसर विवाह करने से) का विचार ही उत्पन्न न हो, इसके लिए मनु और तुलसी दास-जैसे नीतिज्ञ और महात्मा भी खुश-किस्मती से हमारे यहाँ हो गए हैं, जिन्होने अपने भारी-भरकम दिमाग का खासा बोझ हिन्दू-नारी के लिए विधान तैयार कर हल्का किया है। इन महापुरुषो ने नारी के चिर कल्याण के लिए उसे यह पुनीत आशीर्वाद दिया है कि पति चाहे काना कुबडा, अन्धा, बहरा, लूला, लँगड़ा, या कोढी तक भी क्यो न हो, लेकिन नारी का 'धर्म' उसे पति-परमेश्वर मान कर अहर्निशि उसकी 'पूजा' करना ही है। इस तरह की खुराफात का अधिक जिक्र हम नही करना चाहते। हमारा एकमात्र अभिप्राय तो बदकिस्मती से 'हिन्दू' कहे जानेवाले पतितो और पाखण्डियो के घरों मे जन्म लेनेवाली बहनो का ध्यान इस अनीति और अन्याय की ओर आकृष्ट करना है। वे पहले विवाह करने का अधिकार प्राप्त करे। यह काम उन्हे स्वय करना होगा। कोई भी सभा-सस्था उन्हे यह अधिकार नही दिला सकती। थोडी-सी दृढता और स्पष्ट-वादिता से सहज ही मे वे इच्छानुकूल व्यक्ति से अपना विवाह करने का अधिकार प्राप्त कर सकती हैं। इसके बाद उन्हे विवाह-विच्छेद का अधिकार प्राप्त करने के लिए आन्दोलन करना चाहिए। जहाँ तक हमारा विश्वास है, ऐच्छिक विवाहो से आज-कल के विवाहो से पैदा होने-वाले दु ख, अशान्ति और असन्तोष बहुत कुछ स्वय दूर हो जायँगे। पर जहाँ ऐसा न हो, वहाँ तलाक का अधिकार होना अनिवार्य है।

एक बात और है, जिससे हमे खास तौर से अपनी बहनो को आगाह कर देना है। तलाक के विरोधियो मे काफी बडी सख्या ऐसे लोगो की है, जो पश्चिमी देशो के कुछ अपवादो को लेकर यह दलील देते है कि वहाँ तलाक से क्या-क्या अनर्थ हो रहे है! किसी अभिनेत्री या पुश्चली स्त्री की दर्जनो 'पतियो' की मिसाल देकर वे यह बतलाते है कि तलाक का अधिकार मिलने

पर स्त्रियाँ उसका किस प्रकार दुरुपयोग करेंगी ! प्रथम तो अपवादो को आम रिवाज नही माना जा सकता । फिर इस प्रकार का थोडा-वहुत दुरुपयोग तो दुनिया मे हर नियम और अधिकार का होता है । इस डर से नियम-कानून सर्वथा स्थगित तो नही किये जा सकते और न उनके दुरुपयोग को ही एकदम रोका जा सकता है, जब तक कि उनका प्रयोग करनेवालो के दिल मे ईमानदारी की भावना न हो । हर समस्या के दो पहलू होते है, यह हमे भूल न जाना चाहिए । प्रत्येक अच्छाई के साथ थोडी-बहुत बुराई भी रहती है । पर इसका मतलब यह नही कि थोडी-सी बुराई के डर से वडी-से-वडी अच्छाई से भी लाभ न उठाया जाय । अब हिन्दू-स्त्रियो मे शिक्षा का काफी प्रसार हो रहा है । ऐसी हालत मे उनके लिए क्या अच्छा है और क्या नही, इसका निर्णय हमे उन्ही की इच्छा पर छोड देना चाहिए । यदि विवाह के नाम पर उनके साथ होनेवाली ज्यादती और अन्याय को वे रोक सकी, तो धर्म की वात तो हम नही कह सकते, पर हमारा घर, समाज और देश अधिक सुखी और सन्तुष्ट हो जायगा, यह सुनिश्चित है । स्त्री यदि स्वतन्त्र, सुखी और सन्तुष्ट है, तो पुरुप का भी भला है, वर्ना दुराचार और सामाजिक कोढ का बोल-वाला जैसा आज है, वह घटने की अपेक्षा वढेगा ही ।

पूर्ण तरीको से अपनी इच्छा पूर्ण नही कर पाता है, तो पराजय स्वीकार करने के बदले या उससे पहले वह अपने पुराने 'जङ्गल के नियम' या 'जिसकी लाठी उसकी भैस' वाले उपाय का ही प्रयोग करता है।

आधुनिक सभ्यता की बहुत-सी मञ्जिल उसने बुद्धि के साथ-साथ पशु-वल के सहारे तय की है। विज्ञान के मौजूदा युग ने एक तरह से उसकी पाशविकता पर बुद्धि की विजय लगभग घोषित ही कर दी थी, पर अनायास हमने देखा कि बुद्धि भी उसकी वज्र-मुष्ठि मे तिलमिला रही है और उसकी पाशविकता को चरम-सीमा से आगे बढने मे योग दे रही है। पहले वह हाथ-पॉव से लड कर अपने प्रतिद्वन्दी को हराता था। फिर बुद्धि की सहायता से उसने तीर, तलवार और तोप बनाई। और आज राइफल, मशीनगन, बम, बम-वर्षक यान, टैङ्क, जहरीली गैस, मृत्यु फैलानेवाले कीटाणु, जङ्गी-जहाज, टारपीडो, पनडुब्बियाँ, यू-बोट और न मालूम किन-किन वैज्ञानिक साधनो से वह अपनी पाशविकता को सजाये और अधिकाधिक भयङ्कर बनाये हुए है।

पहले पेट भरने के लिए आदमी को लडना पडता था। इसे हम आजकल के मानो मे एकदम 'लडाई' नही कहेगे। आज तो इसे जीविकोपार्जन के लिए हाथ-पॉव मारना कहना ही ठीक होगा। अब लोग जीविकोपार्जन के लिए नौकरी या व्यापारादि करते है, तब शिकार और छीना-झपटी होती थी। पर जब 'मानव' नामधारी पशु के पेट की ज्वाला शान्त हो गई, तो इस नर-पिशाच ने अपनी भुजाओ की सुस्ती दूर करने तथा अपनी बढी हुई दुर्दम महत्वाकाक्षाओ को पूरा करने के लिए अपने 'पडोसी' को ललकारा और उसे अपनी रण-पिपासा शान्त करने और विजय का लाभ लूटने के लिए 'शत्रु' बनाया। एक को विजित करने के बाद दूसरे को और फिर तीसरे को उसने ललकारा। इस प्रकार कुछ ही समय मे उसके समर्थको और विरोधियो के पृथक्-पृथक् दल बन गये। अपने से कम बलवाले कुछ लोगो को अधीन कर वह राजा बन बैठा। फिर कुछ दुर्बल

राजाओ को हरा कर वह उनका महाराजा वन गया। फिर महाराजाओ के राजमुकुट और सिंहासनो को धूल मे मिला कर वह चक्रवर्त्ती सम्राट् वना। फिर भी अपनी महत्वाकाक्षाओ को पूरा न करने की लज्जा और ग्लानि से आहत हो वह मिट्टी मे नाक रगड कर मर गया, और अपना बुरा उदाहरण तथा कुख्याति छोड गया अपने उत्तराधिकारी के मार्ग-प्रदर्शन के लिए! उसकी पाशविकता-जन्य क्रूरता के इस विलास को 'दिग्विजय' सज्ञा मिली और उसके नर-सहार को 'महानता' का अभिवादन! चन्द्रगुप्त और विक्रमादित्य, सिकन्दर और नेपोलियन तथा हिटलर और मुसोलिनी कोई अपवाद नही, इसी पाशविकता या युद्ध्युन्माद के मूर्त्तरूप-भर हैं। इस क्रूर पाशविकता पर पर्दा डालने के लिए पहले अश्वमेध-यज्ञो का सहारा लिया गया और आज वढी हुई आवादी के लिए स्थान प्राप्त करने का वहाना बनाया जा रहा है। पर है यह पाशविकता के विलास और तज्जनित दुराकाक्षाओ की पूर्त्ति का गर्हित रूप ही।

स्त्रियाँ पीछे रह गई ?

पुरुष तो इस प्रकार विजय पर विजय प्राप्त करता गया, अपने वन्धु-परिजनो को धराशायी कर उनकी लाशो को रौदता हुआ अपनी विजय-यात्रा मे आगे वढता गया, अपने यश और वल के आतङ्क से आकाश-पाताल और दशो दिशाओ को कँपाता-गुंजाता गया, पर पीछे छोडता गया अपनी विलखती हुई माँ को, आठ-आठ आँसू रोती हुई वहन को और ज़मीन से सिर पीटती हुई व्याकुल पत्नी को। अपने विजयोन्माद मे वह इतना अन्धा हो रहा था कि उसे पीछे मुड कर देखने की फुर्सत ही कहाँ थी? स्त्री को उसने अग्नि को साक्षी देकर अपनी अर्द्धाङ्गिनी, जीवन-सङ्गिनी, सहचरी, सहधर्मिणी और न-मालूम क्या-क्या बनाया था। फिर अपनी इस विजय-यात्रा मे वह उसे साथ रखना कैसे भूल गया? स्त्री स्वय उसके साथ नही गई या वह स्वय उसे नही ले गया?

इसका उत्तर अफलातूँ, सुकरात, रूसो, ईसा मसीह और मनु महाराज देते है। स्त्री की सारी स्वाधीनता और आत्म-निर्णय की भावना अथवा अधिकार को अपनी एडी से रगड कर उसने धूल मे मिला दिया, लेकिन स्त्री को 'गृह की लक्ष्मी' वना दिया। स्त्री का यह लक्ष्मीपन वैसा ही था जैसा कि किसी को जेल की कोठरी मे बन्द कर यह कहना कि तुम इस कोठरी के चक्रवर्ती सम्राट् हो और हम बाहर घूमने-फिरनेवाले तुम्हारे चाकर। अपनी शरीर-रचना और मानसिक स्थिति के कारण स्त्री बलात् से अपने ऊपर लादे गये इस दायित्व और अधिकार की विडम्वना को ठुकरा नही सकी। यदि वह पाशविक बल के विलास मे पुरुष के साथ रही होती, तो शायद आज वह भी वैसी ही क्रूर और वलिष्ट होती और उसकी हीनता तथा गुलामी का इतिहास किसी और ही रूप मे होता। पर पुरुष उसे अपने साथ ले कैसे जाता? वह जानता था कि जो स्त्री रङ्ग-महल मे उसके हृदय की रानी है, अपने सुख और विलास के लिए जिसे वह सिर पर बिठाता और पूजता है, वह नर-सहार मे उसकी कदापि सहायक न होगी। युद्ध मे वह उसकी सहचरी या सहधर्मिणी न होकर पॉव की बेडी वन जायगी। स्त्री की आहो और आँसुओ ने कितने पराक्रमियो को रण-विमुख किया है, यह शायद कोई भी इतिहासकार नही वता सकता है।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि स्त्रियो मे आक्रमण और रक्तपात की क्रूर भावना नही रही है। अपवादो की बात हम नही कहते, परन्तु आमतौर पर उन्होने अपने पडोसी का खून वहा कर आनन्द का अनुभव कभी नही किया। शासन उन्होने किया है, पर उसमे भी पुरुष की अपेक्षा वे अधिक सक्षम, सहनशील और दयालु सिद्ध हुई है। एकछत्र रानी या महारानी बन कर भी उन्होने विशेष ध्यान अपनी प्रजा की भलाई के लिए दिया, राज्य-विस्तार और साम्राज्य की स्थापना के लिए नही। सिकन्दर, सीजर, नेपोलियन, हिटलर, मुसोलिनी पुरुष ही क्यो हुए? क्या स्त्रियाँ चाहती, तो वे ऐसी महान् नही हो सकती थी? यह धारणा

सर्वथा मिथ्या है कि हृदय और शरीर की दुर्बलता के कारण स्त्री महान् होने की आकाक्षा ही नही कर सकती। अपवाद-स्वरूप, कुसस्कारो के कारण कई स्त्रियो ने भी ऐसा किया है, विशेपत यूनान मे। पर इसकी प्रतिक्रिया वैसी ही हुई है, जैसी कि कलिङ्ग-विजय के वाद अशोक के मन मे हुई थी।

सीजर, सिकन्दर या नेपोलियन की महानता का कारण उनका अपना पराक्रम कदापि नही था, या सर्वांश मे नही था। उसका प्रधान कारण तो था उसकी सैन्यशक्ति, जिसकी मदद से कोई भी स्त्री या पुरुष उन्ही की तरह महान् हो सकता था। हाँ, इस शक्ति के पीछे दिल और हौसला जरूर वढा था और वह था उन महत्वाकाक्षी वीरो का। वह एक स्त्री का भी हो सकता था। लेकिन एक स्त्री—स्त्री रहते हुए, नारी का हृदय रखते हुए—अपने मन मे ऐसी महत्वाकाक्षा को कैसे पाल सकती थी, जिसकी पूर्त्ति इतने वडे नर-शोणित के तर्पण से होनी थी ? उसने माँ का हृदय पाया है। नौ मास तक अपने गर्भ मे उसने जिसे रक्खा है, उसका खून वहाने की कल्पना ही उसके लिए मौत का पैगाम है। वह कल्याणी है। दया, प्रेम और सौंदर्य की वह देवी है, खून-खराबे से उसे वास्ता ही क्या ? वह न केवल खुद लडाई से वचती रही है, वल्कि पुरुष को भी वचाने का प्रयत्न करती रही है। यह दूसरी वात है कि उसे इसमे आशातीत सफलता नही मिली।

स्त्रियाँ लड़ी है, लेकिन—

प्रस्तुत लेख का प्रारम्भ हमने हेरोडॉट्स के उस उद्धरण से किया है, जिसमे स्त्रियो का लडना सिद्ध है। ऐसा ही उल्लेख हमे अपने भारतीय इतिहास मे भी मिलता है। फिर हम कैसे कह रहे है कि स्त्री न सिर्फ खुद लडाई से वचती रही है और पुरुष को भी वचाने का प्रयत्न करती रही है ? पाठको को यह वात खटक सकती है।

पर, इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले हम यह बता देना आवश्यक समझते है कि लड़ाई-लडाई मे आकाश-पाताल का अन्तर है। लडाई-मात्र के स्त्रियाँ विरुद्ध रही है, ऐसा हम नही कहते। ऊपर हमने स्त्रियो को जिस प्रकार की लडाइयो के विरुद्ध बताया है, वे दूसरो को हरा कर अपने अधीन करने और अपना राज्य-विस्तार करने के लिए होनेवाली लड़ाइयाँ है। इस प्रकार की लड़ाइयाँ 'आक्रमणात्मक' (Aggrasive) कहलाती है। ऐसी लडाइयाँ मानवता का कलङ्क और पाशविकता का प्रतीक मानी गई है। दूसरी तरह की लडाइयाँ है आक्रमणकारी से मुकाबिला करने और अपनी रक्षा करने की। इन्हे 'आत्म-रक्षात्मक' (Defensive) कहा जाता है। आत्म-रक्षा करना मनुष्य का आवश्यक धर्म, कर्त्तव्य एव अधिकार है। इसके लिए हत्या तक को अपराध नही माना गया है। अपने राज्य-विस्तार और दूसरो की स्वतन्त्रता एव अधिकारो के अपहरण के लिए होनेवाली चढाई और अपने अस्तित्व एव अधिकारो की रक्षा के लिए शत्रु से लोहा लेने के कर्त्तव्य-पालन मे क्या अन्तर है, यह कदाचित् पाठक भली-भाँति जानते है। एक मे जितना अनौचित्य है, दूसरे मे उतना ही औचित्य है।

जिन लडाइयो मे स्त्रियो ने भाग लिया है, वे प्रधानत आक्रमणात्मक न होकर आत्म-रक्षात्मक थी। भारतीय इतिहास मे ऐसे युद्धो को 'धर्म-युद्ध' सज्ञा दी गई है, क्योकि वे आत्म-रक्षा के मानवोचित एव आवश्यक कर्त्तव्य का पालन करने के लिए हुए है। नेपोलियन, सीजर या सिकन्दर की तरह स्त्रियो ने केवल राज्य-विस्तार के लिए कभी हमले, चढाइयाँ या लडाइयाँ नही की। जिस जमाने मे स्त्रियो के लडने का उल्लेख हेरोडॉट्स ने किया है, यूनान के इतिहास मे वह गृह-युद्धो का जमाना था। पृथक्-पृथक् नगरो के पृथक्-पृथक् राज्य थे और उनमे से जो बलवान होता था, वह अपने पडोसी-राज्य पर हमला कर वहाँ अपना आधिपत्य स्थापित कर लेता था। स्पार्टा के युद्ध इसी तरह के थे और उनमे स्त्रियो ने अपने देश (जो उस

समय नगर-राज्यो मे बँटा था) की रक्षा के लिए भाग लिया। आक्रमणो को लेकर हुई लडाइयो मे स्त्रियो का सहयोग रहा हो, ऐसा नही जान पडता। सिकन्दर या नेपोलियन की आक्रमणकारी सेना मे स्त्रियो का उल्लेख कही नही है। यही वात भारतीय युद्धो मे भाग लेनेवाली स्त्रियो के सवध मे भी लागू है। महारानी कैकेयी का सहयोग किसी आक्रमणात्मक युद्ध मे नही, वल्कि राक्षसो के विरुद्ध होनेवाले 'धर्मयुद्ध' मे था। चॉदवीवी, अहल्याबाई, लक्ष्मीवाई आदि भी आत्म-रक्षा के लिए ही लडी थी। वढते हुए अधर्म, अन्याय और अत्याचारो के विरुद्ध जो धर्म-युद्ध हुए है, उनमे स्त्रियो ने अपने प्राणो को जोखिम मे डाल कर भी पुरुषो की सहायता और उत्साह-वृद्धि की है। जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह के युद्ध से विमुख होने पर उनकी महारानी द्वारा किले का दरवाजा न खुलवाना और चूडावत सरदार को अपने मोह-पाश से मुक्त करने के लिए हाडी रानी का आत्म-वलिदान करना क्या अद्वितीय आदर्श नही है? पर हमारे ही यहाँ या विदेशो मे कितनी स्त्रियो ने निरीहो और दुर्वलो पर आक्रमण करने और उन्हे गुलाम वनाने के लिए पुरुषो को उकसाया या ऐसा करने के लिए अपने प्राण दिये है?

जहाँ धर्म-युद्ध मे स्त्रियो ने अपने पतियो, पुत्रो और भाइयो को आदर, प्रेम और उत्साह से भेजा है, वहाँ उन्होने युद्धो को रोकने मे भी कोई कोर-कसर नही रक्खी है। युद्ध तो आखिर युद्ध है, फिर चाहे वह आक्रमणात्मक हो या आत्म-रक्षात्मक। नर-वलि दोनो ही मे दी जाती है। वडे पैमाने पर होनेवाले इस रक्तपात को रोकने के लिए स्त्रियो ने वडे-से-वडे अपमान को भी धैर्य और साहस के साथ पी लिया है। अपमान और जिल्लत को सहकर भी वे इस वात का भरसक यत्न करने मे लगी रही है कि नर-सहार किसी तरह रुक जाय। सीता अपने अपहरण के अपमान और वदनामी को सहने को तैयार थी, यदि रावण उन्हे सकुशल लौटा देता। वे राम-रावण युद्ध की विभीषिका को अपने कारण और अपनी ऑखो से

नही देखना चाहती थी। रावण की रानियो ने भी उसे राम को युद्ध के लिए मजबूर न करने के लिए बहुत समझाया-बुझाया। उसकी नासमझी से युद्ध भले ही न टल सका हो, पर स्त्रियो की ओर से उसे टालने के लिए कौन सा प्रयत्न उठा रक्खा गया ? इसीसे मिलता-जुलता किन्तु काफी बडा अपमान पद्मिनी का है, जो राजपूत-इतिहास का बहुत बडा कलङ्क समझा जाता है। पद्मिनी को जब मालूम हुआ कि केवल दर्पण मे उसकी प्रतिच्छाया को देख कर ही अलाउद्दीन खिलजी सम्भावित युद्ध से पीछे हटने को तैयार है, किन्तु महाराणा रत्नसिह अपने कुल की प्रतिष्ठा के खयाल से ऐसा करने को तैयार नही है, तो उसने महाराणा को अपनी अनुनय-विनय से इस अपमान को सहने के लिए भी राजी कर लिया। जिनका हृदय स्वच्छ और दिमाग सुलझा हुआ है, वे शायद हमारे इस कथन से सहमत होगे कि महाराणा या उनके कुल से बढ कर यह पद्मिनी का अपमान था। कौन सती-साध्वी एक कुचक्री लम्पट की दुराकाक्षा पूरी करने के लिए अपने रूप-यौवन का इस तरह अनुचित दवाव मे आकर प्रदर्शन करना पसन्द करेगी ? पद्मिनी के हृदय की उस समय क्या हालत होगी, कैसे-कैसे भाव उस समय उस आपद-ग्रस्ता पतिव्रता के हृदय मे उठ रहे होगे—यदि कोई इसका पता लगा सके, या अनुमान-भर कर सके, तो उसे मालूम होगा कि 'पसन्द' तो यह सब कुछ पद्मिनी को भी नही था, पर युद्ध को टालने के लिए उसने इस निर्लज्ज निर्मम मजबूरी को भी अपनी 'पसन्द' बना लिया। कहा जा सकता है कि लडाई तो बाद मे भी हुई और पद्मिनी को 'जौहर-व्रत' की शरण भी लेनी पडी, फिर पहले ही उसने खिलजी की अपमानपूर्ण मॉग को ठुकरा क्यो नही दिया ? निस्सन्देह वह ऐसा आसानी से कर सकती थी, पर शायद उसने देखा हो कि यदि मेरे थोडा-सा अपमान सह लेने-भर से वीर राजपूतो का रक्तपात रुक सके, तो इसमे हर्ज ही क्या है ?

फ्रान्स की जोन ऑफ् आर्क भी लडी जरूर, लेकिन अपने देश को आक्रमणकारियो के चगुल से निकालने के लिए। इसी उद्देश्य से पिछले

इटली-अबीसीनिया युद्ध मे इथियोपियन स्त्रियो ने भी कम वीरता नही दिखाई। रूस की कैथेराइन और आस्ट्रिया की मेरिया थैरेसा भी लडाई के लिए प्रसिद्ध है, किन्तु आक्रमणात्मक लडाइयो के लिए नही। ब्रिटेन की महारानी मेरी एलिजाबेथ और महारानी विक्टोरिया ने भी युद्ध को टालने की कम कोशिशे नही की। एलिजाबेथ के राज्य-काल मे तो स्पेनवासियो की तरफ से पग-पग पर अङ्गरेज़ो को उत्तेजना मिलती रही। अङ्गरेज मल्लाहो का अपमान और छेड-छाड ने अङ्ग-भङ्ग तक का रूप धारण कर लिया। एलिजाबेथ ब्रिटिश जङ्गी-वेडे की धाक और शक्ति से अपरिचित नही थी, पर उसने भरसक यही प्रयत्न किया कि स्पेनवासियो से युद्ध न हो। अगर वह युद्ध का एलान कर देती, तो युद्ध किसी भी प्रकार अनुचित या आक्रमणात्मक नही होता। औचित्य पूर्णरूपेण उसके साथ था। पर वह नही चाहती थी कि उसे कायर कहनेवाले उच्छृङ्खल मल्लाहो को युद्ध का विगुल फूँकने का आदेश देकर वह अपने लाखो देश-वासियो को समरानल मे झोक दे। उस समय एलिजाबेथ की जगह यदि कोई पुरुष होता, तो कम-से-कम आधे दर्जन युद्ध जरूर हुए होते।

आज की स्त्रियाँ क्या करे ?

ऊपर की पक्तियो मे हमने वडे सक्षिप्त और चलते हुए ढग से युद्ध के प्रति स्त्रियो के व्यापक दृष्टिकोण का दिग्दर्शन कराने की चेष्टा की है। स्थानाभाव के कारण जान-बूझ कर हमने विस्तार से बचने की कोशिश की है। ऐसी दशा मे बहुत-सी कही जाने योग्य बातो का छूट जाना स्वाभाविक है। फिर भी पाठक इस मोटी-सी बात को तो समझ ही गये होगे कि स्त्रियाँ स्वभाव से ही युद्ध के विरुद्ध रही है और है। उनका कार्य निर्माण और पालन-पोषण है, विनाश नही। जो माँ है, वह अपनी आँखो के आगे अपने ही नही, दूसरे के पुत्र का भी खून होते कैसे देख सकती है ? जो पत्नी है, वह अपने ही पति-जैसे सुन्दर, सुडौल युवक की लाश को, रक्त-कीच

मे लोटते हुए कैसे देख सकती है ? जो बहन है, वह कैसे अपने वीर भाई के मस्तक को धड से अलग होता देख कर चुप रह सकती है ? स्त्री के लिए तो रक्तपात या युद्ध का नाम ही डर और आतङ्क पैदा करने-वाला है ।

सभ्यता के इस युग मे हमे युद्ध की तो जरूरत ही नही । आज जिस युग-सन्धि पर हम अपने-आपको पा रहे है, वहाँ तो शासक और शासित का भेद, ऊँच और नीच अथवा धनी और दीन की विषमता, वर्गो और वर्णो की कृत्रिमता, एकतन्त्र राज्य, स्वेच्छाचारिता, सिहासन, राजमुकुट, साम्राज्य-शोषण, उत्पीडन, अधिकारापहरण आदि इस तरह अपने-आप मिट रहे है जैसे कि सूर्य निकलने पर कुहरा । हमारी आँखो के सामने वर्तमान और निकट भविष्य के गर्भ मे एक वर्गविहीन समाज बन रहा है, जो युद्ध और उसके कारणो को अतीत की याद बना कर अपने सभ्य कहे जानेवाले अर्द्धपशु पूर्वजो के कलक के रूप मे इतिहास के पृष्ठो मे सजा कर भावी सन्तति के मार्ग-प्रदर्शन के लिए रक्खेगा ।

युग-परिवर्तन और नवयुग के निर्माण का यह कार्य आज जिन हाथो से हो रहा है, वे वर्ग, वर्ण या लिङ्ग का भेद नही जानते । भेद और विषमता को मिटाने के लिए ही तो वे आगे बढे है । पर हमारे इस अभागे और पिछडे हुए गुलाम देश मे अभी तक भेद और विषमता का ही बोलबाला है । इसीलिए हमने यह लेख विशेषत स्त्रियो को दृष्टिगत रख कर लिखा है और उन्हे यह बताने की चेष्टा की है कि क्यो उन्होने चिर-काल से युद्ध का विरोध किया है और क्यो ऐसा करना उनके लिए आवश्यक हुआ ?

आज जब नर-शोणित की प्यासी पाशविकता वज्र की तरह मानवता पर टूट पडी है और एक बहुत बडा जन-समूह समरानल मे अपनी आहुति देकर कराह रहा है, क्या हम स्त्रियो से यह आशा न करे कि वे रणोन्मत्त, पागल, पुरुष-पशु को युद्ध से विमुख कर अनुचित और अनावश्यक रक्तपात को रोकेगी ? आज समस्त मानवता मातृ-जाति के आवाहन

की प्रतीक्षा मे खडी है। उसे क्या उत्तर मिलेगा ? क्या यूरोप के पिछले दोनो महासमरो की विभीषिका फिर दोहराई जायगी ?

युद्ध के विरुद्ध ससार-भर की महिलाओ मे कितना जबर्दस्त क्षोभ है, यह अभी हाल ही की कुछ खबरो से स्पष्ट हो जाता है। युद्धकी समाप्ति से कुछ महीने पहले बर्लिन मे महिलाओ की एक सभा हुई थी, जिसमे एक सम्भ्रान्त जर्मन महिला-अधिकारिणी ने युद्ध के समर्थन मे भाषण दिया था। उसने महिलाओ से युद्ध मे सब तरह से योग देने और त्याग करने को कहा था। इससे वहाँ की पीडित-बुभुक्षित स्त्रियो मे इतनी उत्तेजना फैली कि वे उसे मारने को तैयार हो गईं। उनमे और नात्सी-सरकार की एजेण्ट महिलाओ मे खूब मार-पीट हुई और आखिर पुलिस को आकर बीच-बचाव करना पडा। इसी प्रकार की गडबडी जर्मनी के विदेश-मन्त्री की धर्मपत्नी फ्राउ रिबेन्ट्रॉप के भाषण मे भी हुई थी। वहाँ की स्त्रियों ने सक्रिय रूप से युद्ध का जो विरोध किया, उसकी खबरे हिटलर के जीते-जी हम तक पहुँच ही कैसे सकती थी ? पाठक भूले न होगे कि इटली-अबीसीनिया युद्ध के समय बहुत-सी इटालियन स्त्रियो ने रेल की पटरी पर लेट कर सैनिको को लेकर जानेवाली गाडियो को रोकने का यत्न किया था। अमरीका की महिलाओ ने तो अपने यहाँ युद्ध-विरोधी आन्दोलन बडे जोरो से शुरू किया था और प्रेसीडेण्ट रूजवेल्ट के पास उनके कई मेमोरियल पहुँचे थे कि अमरीका को वे युद्ध मे कदापि न शामिल करे। आस्ट्रिया, बोहेमिया, मोर्विया, स्लोवाकिया आदि की महिलाओ द्वारा भी युद्ध-विरोधी आन्दोलनो के शुरू किये जाने का थोडा-बहुत विवरण जब-तब मिलता रहा है। फिर भारतीय स्त्रियाँ ही मानवता की रक्षा के इस कार्य और कर्त्तव्य-पालन मे किसी से क्यो पीछे रहे ?

ससार के इतिहास मे ऐसे उदाहरण अनेक है, जहाँ स्त्रियो ने राज्य किये है, उन्होने युद्ध भी किये है, किन्तु केवल आत्म-रक्षात्मक ही, आक्रमणात्मक नही। रक्षात्मक युद्ध के लिए स्त्रियो ने त्याग और

कष्ट-सहन मे कोई कसर नही रक्खी है। पिछले महायुद्ध मे भी फ्रास और ब्रिटेन के रक्षात्मक युद्ध मे सहस्रो स्त्रियो ने सहयोग दिया है—कुछ ने आर्थिक अथवा युद्धोपयोगी सामग्री देकर, कुछ ने युद्ध की तैयारी मे सक्रिय सेवा द्वारा और कुछ ने घायलो एव पीडितो की सहायता एव सेवा-शुश्रूषा कर। इस वहुमूल्य एव महत्वपूर्ण सहयोग के लिए स्त्रियो की जितनी भी प्रशसा की जाय, कम है। पर यहाँ हम उनके युद्ध-सहायता-सम्वन्धी कार्यो की आलोचना करने नही चले है। इसलिए नही कि हम उनके रक्षात्मक युद्ध मे दिये जानेवाले सहयोग की आलोचना करना आवश्यक नही समझते अथवा उनके कार्यो को इतना नगण्य समझते है कि वे हमारी आलोचना की पात्र नही है, वल्कि सचाई यह है कि हम उन लोगो की सूची मे शामिल होने को उत्सुक नही है, जिन्होने प्रशसा कर-कर के स्त्रियो की दयाशीलता, उदारता एव युद्ध-सेवाओ का अनुचित विज्ञापन किया है। माना कि रक्षात्मक युद्ध आक्रमणात्मक युद्ध को रोकने के लिए ही होता है, पर मानव का रक्तपात कर रक्तपात को रोकने का उपाय भी तो श्रेष्ठ नही कहा जा सकता। ऐसी दशा मे उसमे स्त्रियो का योग-दान उचित और आवश्यक होने पर भी शोभा और सन्तोष, गर्व और गौरव की बात नही रह जाती।

जीवशास्त्रियो एव विज्ञानवेत्ताओ ने युद्ध को भले ही एक भौतिक आवश्यकता के रूप मे अपरिहार्य माना हो, नीतिज्ञो तथा धर्म-शास्त्रियो ने भी भले ही उसे सत्य और न्याय की स्थापना के लिए एक उचित एव आवश्यक अस्त्र अथवा उपाय माना हो, पर है तो वह पशुता का प्रतीक ही। युद्ध को किसी-न-किसी रूप मे आवश्यक मान लेने पर हमारे लिए उसके पक्ष और विपक्ष को नीति और अनीति की तराजू से तौलना हास्यस्पद-सा हो जाता है, क्योकि नीति और औचित्य, सत्य और न्याय की ऐसी कोई सर्वमान्य परिभाषा तो है नही, जिसे सव कोई एकमत और एक स्वर से ठीक स्वीकार कर ले। युद्ध यदि आवश्यक है, तो उसके पात्र बननेवाले दोनो दलो मे से

प्रत्येक के लिए यह कहना भी उतना ही आवश्यक और सुगम हो जाता है कि वह नीति, सत्य, शान्ति या अपने स्वत्वो की रक्षा के लिए लड रहा है। कौन वास्तव मे ठीक है, इसका कोई सर्वमान्य निर्णय नही किया जा सकता। कहने का तात्पर्य यह है कि विज्ञान के इस युग मे युद्ध की आवश्यकता एव अपरिहार्यता को स्वीकार करना सहज-बुद्धि का अपमान करना है। हाँ, युद्ध की आवश्यकता उस समय जरूर थी, जब मनुष्य ने अपने व्यवहार-आचरण के लिए नियम-कानून और समाज-व्यवस्था की रूप-रेखा नही बनाई थी। उसकी बुद्धि का विकास तब इतना नही हुआ था कि वह अपनी कठिनाइयो को हल करने मे उसकी कुछ सहायता ले सके। इसके विपरीत जीवन के लिए हिंस्र पशुओ से सङ्घर्ष करते रहने के कारण उसके शरीर का विकास इतना पर्याप्त हो गया था कि वह अपनी प्रत्येक कठिनाई को बाहु-बल से ही हल करने लगा। आवश्यकता से अधिक उसके लिए यह 'मजबूरी' थी। ज्यो-ज्यो उसका मानसिक विकास होता गया, वह इस मजबूरी के प्रयोग से धीरे-धीरे हटने-सा लगा, पर अधिक चतुर हो जाने के कारण उसने इसे त्यागने के बजाय एक जरूरत के समय का साधन समझ कर अपनी बपौती बना कर रख लिया। आज विज्ञान के इस युग मे उसने इसे और भी भयङ्कर रूप दे दिया है और अपने से दुर्बल एव साधनहीन लोगो पर अपना प्रभुत्व जमाने के लिए इसे सहार का एक भयङ्कर अस्त्र बना लिया है। जब बुद्धि-बल से वह अपने प्रतिद्वन्दी से जीत नही पाता, तो वह इन भयङ्कर अस्त्र द्वारा अपनी अभीष्ट-सिद्धि करता है।

यद्यपि आज का मनुष्य एकदम पशु से पूर्ण पुरुष तो नही हो पाया है, क्योंकि अब भी उसमे पाशविकता कम नही है और अवसर पाकर वह अपने नग्न-रूप मे भड़क भी उठती है, तथापि यह मान लेने मे कोई हानि नही कि आज वह पशु कम रह गया है और बुद्धिजीवी प्राणी अधिक हो गया है। यह भी मान लेने मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिए कि

अपनी पाशविक स्थिति की अपेक्षा आज की मानवीय स्थिति मे वह अधिक सुखी, शान्त और समृद्धिशाली हो गया है और उसके आस-पास के वियाबान जङ्गल सुघड़ नगरो, सुरम्य खेतो और सुगन्धित उपवनो के रूप मे परिणत हो गये है। पर साथ ही यह भी हुआ है कि पशुता से मानवता ग्रहण करने के कारण वह अपने साथ एक अनुचित लोभ अथवा मोह भी ले आया है। यह है उसकी मानवीय विकास के सब सुफलो एव सुख-सुविधाओ को स्वय, अपने परिवार या वर्ग-विशेष ही के भोगने की सङ्कीर्ण लालसा। वह सभी को अपने समान सुखी एव सन्तुष्ट नही देखना चाहता। वह चाहता है कि वह औरो से अधिक सुखी रहे, बडा रहे, साधन एव शक्ति-सम्पन्न रहे। इस लोभ के कारण उसने अपने-आपको 'वसुधैव कुटुम्बकम्' से अलग कर एक दल या वर्ग की बनावटी सीमाओ मे कैद कर लिया है और समूचे ससार की निधियाँ वही लाकर केन्द्रित करना चाहता है। पहले इस लोभ ने सामन्तवाद (Feudalism) का जामा पहना, फिर यह पूँजीवाद को अपना वाहन बना कर साम्राज्यवाद बना और फिर अपने अन्तिम भीषण रूप फाशिस्टवाद अथवा नात्सीवाद के रूप मे दिखाई पडा। जब तक मनुष्य इस अनुचित और अनधिकारपूर्ण लोभ का परित्याग नही कर देता, युद्ध की 'आवश्यकता' उसे रहेगी ही।

पर आज उन मनुष्यो की सख्या ऐसे लोभी एव परोपजीवी मनुष्यो की अपेक्षा अधिक है, जो मनुष्य-मात्र को अपने समान सुख-सुविधा और अधिकार देने के लिए प्रस्तुत है। ऐसे लोगो के हाथो मे सभी देशो मे अभी तक शासन-सत्ता एव समाज की व्यवस्था नही आ पाई है, इसलिए भले ही वे चुप हो, अथच उन्होने शक्ति-भर युद्ध की आवश्यकता की मिथ्या धारणा को निर्मूल कर दिया है। क्या हम सब एक-दूसरे के साथ बतौर पडोसी के या एक ही परिवार के सदस्यो के मिल-जुल कर नही रह सकते ? यदि हम मौका पा कर अपने पडोसी का सब-कुछ हडप लेने और उसके अस्तित्व को मिटा देने की ताक मे न रहे, तो ऐसा होना

कुछ भी मुश्किल नही। यह कागजी योजनाओ और सन्धियो-समझौतो से नही, पारस्परिक प्रेम, सद्भावना और सहिष्णुता से ही हो सकता है।

इस दिशा मे पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियो ने अधिक काम किया है। पुरुष की अपेक्षा उनमे पशु-वल अथवा पाशविक वृत्ति कम रही है। इसी-लिए उन्हे अपने विकास और अस्तित्व-रक्षा के लिए वुद्धि पर अधिक अवलम्बित रहना पडा है। उनका वौद्धिक विकास भी शायद इसी वजह से उनके पुरुष-सहयोगी की अपेक्षा कुछ जल्दी और व्यापक रूप से हुआ है। चातुर्य मे वे आज पुरुष से आगे है। यह सर्वथा दूसरी वात है कि शारीरिक, तज्जनित सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक पराधीनता के कारण वे समाज की रूप-रेखा को अपने विचारो और प्रवृत्तियो के अनुरूप नहीं वना सकी है। उनको सदा पुरुष की अनुवर्तिनी हो कर ही चलना पडा है। आज कोरे पशु-वल का जमाना लद चुका है और स्त्रियो की पराधीनता के वन्धन यदि एकदम छिन्न-भिन्न नही हो गये, तो ढीले अवश्य पड गये है। ऐसी अवस्था मे मनुष्य की पाशविक लालसा और युद्ध के भयङ्कर अस्त्र के प्रयोग के प्रति क्या उनका कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है? क्या वे कुछ भी नही कर सकती? इसका उत्तर हमसे अधिक अच्छा स्त्रियां स्वय दे सकती है।

युद्ध वर्वर पशु-वल की उस वाढ के समान है, जो मानव द्वारा निर्मित सभ्यता और सस्कृति की न केवल जडे हिला जाती है, वल्कि उसके ऊपर वार-वार अथक परिश्रम से खडे किये जानेवाले सुख और शान्ति के अधूरे भवन को मिस्मार भी कर जाती है। उससे मनुष्य के सदियो के परिश्रम और प्रयत्नो के फल पर कुछ ही दिनो या महीनो मे पानी फिर जाता है। स्त्रियाँ यदि चाहे, तो मानव-स्वभाव की इस विकृति को—पुरुषो की पाशविक लालसा की इस क्रूर प्रतिक्रिया को—सहज ही मे रोक सकती है। यह कार्य कठिन भले ही हो, पर असम्भव नही है। इसके लिए भगीरथ प्रयत्न की आवश्यकता जरूर है, पर सफलता की सम्भावना भी उतनी ही वडी और दृढ है।

विश्व-शान्ति और स्त्रियाँ

जिस प्रकार घर की शान्ति और सुख की कुन्जी स्त्रियो के हाथ मे है, उसी प्रकार विश्व-शान्ति की कुन्जी भी उन्ही के हाथ मे है। यह विशाल विश्व कई घरो, कई परिवारो, कई राष्ट्रो का ही एक सामूहिक रूप है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' को पुरुषो ने कभी चरितार्थ किया हो या नही, पर स्त्रियो ने सदैव किया है। इसका कारण यह है कि स्त्री जन्म और स्वभाव से ही प्रेम, दया और शान्ति की वाहक होती है। सस्कृति या परिस्थितियाँ भले ही उसे कुछ क्रूर या कठोर वना दे, किन्तु उसके इन गुणो का सर्वथा लोप कदापि नही होता। दूसरी ओर पुरुप स्वभाव से ही क्रूर और कठोर होता है। 'पुरुष' शब्द ही परुषता या कठोरता का द्योतक है। गुणो और कोमल भावनाओ की अपेक्षा पुरुष मे शारीरिक अथवा पाशविक वल की ही अधिकता होती है। इसीलिए चिर-काल से वह क्रूर, स्वार्थी और दु साहसी रहा है। पुरुष की अपेक्षा स्त्री का हृदय जल्दी पसीजता है और उसकी आखे और भी जल्दी सजल हो उठती है। इन प्राकृतिक गुणो के ही फल-स्वरूप युद्ध की आवाज घर मे, पडोस मे, गाँव या नगर मे, प्रान्त या राष्ट्र मे और वस्तुत विश्व मे पुरुषो ने उठाई है और स्त्रियो ने अपने प्राणो की वाजी लगा कर भी शान्ति-रक्षा का यत्न किया है। पुरुष को अपनी मा, वहन या पत्नी को खोकर उतनी गहरी चोट नही लगती, उतना स्थायी दु ख नही होता, जितना स्त्री को अपना पुत्र, भाई या पति खोकर। इतिहास इस वात का साक्षी है कि अगणित देवियाँ अपने पति का वियोग सहन न कर चिता मे उनके साथ सती हो गईं अथवा सारा शेप जीवन कठोर वैधव्य मे आँसू वहा-वहा कर काट दिया। पर पत्नी के साथ मरनेवाले या उसके पीछे आजन्म अविवाहित

रहनेवाले पुरुष कितने है ? भाई के लिये वहनो ने अपने सुख-सुहाग और जीवन तक की परवाह नहीं की है। अधिकाश माताएँ अपने पुत्रो पर सर्वस्व न्योछावर कर देती है, पर माता के लिये सर्वस्व त्यागनेवाले पुत्र आज कितने है ? यही कारण है कि पुरुषो ने स्त्रियो की विशाल-हृदयता, उदारता, प्रेम, दया और त्याग से अनुचित लाभ उठा कर उन्हे दीर्घकाल से गुलाम और अपने हाथ की कठपुतली बना रक्खा है। किन्तु इनके बावजूद शान्ति-रक्षा के लिये जब-जब स्वार्थ-त्याग और आत्मोत्सर्ग का अवसर आया है, पुरुषो को पीछे ढकेल कर स्त्रियां ही आगे आई है। अस्तु—

उत्थान-पतन, विग्रह-सन्धि अथवा जय-पराजय का विवरण देनेवाले मानवीय इतिहास मे हम जहां-तहां शान्ति के लिये किये गये स्त्रियो के प्रयत्न का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में उल्लेख पाते है, प्राणनाशक शस्त्रास्त्रो के कोलाहल मे, पृथ्वी को हिला देने और कानो के पर्दे फाड देनेवाली तोपो की गडगडाहट मे और मौत का पैगाम लेकर दौडनेवाले गोले-गोलियो और वायुयानो की गडगडाहट मे शान्ति के लिये उठाई गई स्त्रियो की धीमी और दबी हुई आवाज भले ही हमारे इन इतिहासकारो के कानो तक न पहुँची हो, पर पुरुष-समाज पर स्त्रियो के इस असीम उपकार का मूल्य सहज ही आँका नहीं जा सकता। आज भले ही उनकी इस बात का कोई महत्व न समझा जाय, पर जिस दिन पुरुष के सिर पर से युद्ध का भूत उतर जायगा, जिस दिन वह अपने ही भाइयो का खून बहाने और अपने ही सहयोगियो के मुंह का कौर छीनने में अपनी वीरता और पुरुषार्थ की इतिश्री समझना भूल जायगा, उस दिन लिखे जानेवाले मानवीय इतिहास मे स्त्रियो की यह अनुपम देन निश्चय ही स्वर्णाक्षरो मे लिखी जायगी।

भारत

ससार के विभिन्न देशो की स्त्रियो ने शान्ति के लिये कब और क्या प्रयत्न किये, यह जानने के लिये हमें विभिन्न देशो पर सरसरी निगाह

डालनी होगी। सबसे पहले हम भारत को ही लेते हैं। भारत में सदा से धर्म की प्रधानता रही है। यहाँ हुए विग्रहो मे से अधिकाश को 'धर्म-युद्ध' की ही सज्ञा दी गई है। महाभारत इसका एक मोटा उदाहरण है। इसमे हुए अपार धन और जन-सहार से फैली अराजकता और दुराचार ने ही कदाचित् भारतीय स्त्रियो के हृदय मे शान्ति का अकुर प्रस्फुटित किया। पिछले महासमर मे न-जाने कितने वश मिट गये, कितने घर बरबाद हो गये, कितनी ललनाओ का सुख-सौभाग्य छिन गया और न-जाने कितनी माताओ की गोद सूनी हो गई। मनुष्यत्व के इस घोर अपव्यय के परिणाम-स्वरूप शान्ति के जिस आन्दोलन या युद्ध-विरोधी मिशन का जन्म हुआ वह आधुनिक वैज्ञानिक ढङ्ग के प्रचार के रूप मे न होकर मन्दिरो और मठो मे ईश्वरोपासना के रूप मे हुआ। मनुष्य द्वारा फैलाई हुई अशान्ति के जहर को कम करने मे इन प्रार्थना एव उपासना-गृहो ने बहुमूल्य सहायता दी। पर अन्धश्रद्धा और भेडियाधसान के कारण कुछ समय बाद यह चीज वास्तविक न रह कर गौण हो गई और वास्तविकता का स्थान धर्म ने ले लिया। किन्तु स्त्रियो ने शान्ति-रक्षा और युद्धावरोध का अपना कार्य किसी-न-किसी रूप मे जारी ही रक्खा। द्रौपदी का चीर-हरण और सीता का राम को युद्ध के लिये प्रेरित करना दु साहसी पुरुष-हृदय की उस आक्रमणात्मक नीति का सक्रिय विरोध-मात्र था, जो उस समय और भविष्य के लिये विश्व-शान्ति के लिये एक सजीव खतरा था। अपने राज्य की शान्ति भङ्ग होने की आशङ्का से महारानी पद्मिनी ने अपने कुन्दन से शरीर को भस्म कर डाला। अहल्याबाई, सुल्ताना चाँदबीबी और झाँसी की महारानी लक्ष्मीबाई ने केवल शान्ति-स्थापना के लिये युद्ध किये हैं—राज्य-विस्तार या यश-प्राप्ति के लिये नही। इन पुरानी बातो को जान दीजिये। अभी कल की बात है, देश की खोई हुई शान्ति को पुन. प्राप्त करने के लिये हमारी देवियाँ सहस्रो की सख्या मे हँसते-हँसते गोली-लाठियो की मार और जेलो की यातनाएँ सह चुकी है।

चीन

अब जरा सभ्यता और संस्कृति मे भारत के समकालीन चीन मे चलिए। ईसा की १६वी शताब्दी तक वहाँ कई उलट-फेर हुये, कई राज्य बने और बिगडे, इस बीच मे देश को कई चोले बदलने पडे। पहले जब वहाँ स्त्रियो का ज़ोर था, उन्होने सदा शान्ति-रक्षा का यत्न किया और जिन छोटी-छोटी बातो को लेकर आज महायुद्ध हो जाते है, उन्हे बडी बुद्धिमत्ता से निपटा दिया। १९वी शताब्दी मे जब चीन पर विदेशी राष्ट्रो के आक्रमण होने लगे और बाहरी मिशनरियो द्वारा षडयन्त्र रचे जाने लगे, तो चीनी स्त्रियो ने शान्ति के लिये फिर ज़ेहाद बोला। नाबालिग सम्राट के हाथ मे देश की शान्ति को सुरक्षित न जानकर वयोवृद्धा राजमाता जू-सी ने एकान्तवास त्याग दिया और शान्ति-रक्षा के लिये चीनी स्त्रियो का सङ्गठन किया। यही क्यो, आधुनिक चीनी प्रजातन्त्र के विधाता डॉक्टर सुन्-यात्-सेन की चीन-पुनरुद्धार-समिति और सार्वजनिक राष्ट्रीय दल की सफलता का अधिकाश श्रेय भी चीनी स्त्रियो को ही है। मादाम च्याङ्गकाई-शेक ने अपने देश की शान्ति को अक्षुण्ण रखने के लिये जो-कुछ किया है, वह किसी से छिपा नही है। आज भी, जब कि चीन मे गृह-युद्ध की आग धधक रही है और जापान की गिद्ध दृष्टि उस पर लगी है, चीन की शान्ति की बागडोर स्त्रियाँ ही सँभाले हुए है।

जापान

जापान का शासन चिर-काल से सैनिक मनोवृत्ति के साम्राज्यवादियो के हाथ मे रहा है, जिन्होने लोकमत को कुचलने के लिये कोई बात उठा नही रक्खी। फिर भी वहाँ की स्त्रियो ने शासको की कोप-दृष्टि और यातनाएँ सह कर बडे महँगे मूल्य पर शान्ति-रक्षा का प्रचार किया ही। जापान आज फिर युद्ध के लिये कमर कस रहा है, वहाँ के सहस्रो स्त्री-पुरुष अपनी पराजय का बदला लेने की मानसिक तैयारी कर रहे है, पर

पाठशालाओ, होटलो, नाच-घरो तथा अन्य सार्वजनिक सस्थाओ मे स्त्रियाँ आज भी शान्ति के लिये आवाज उठा रही है। जापानी स्त्रियो के हाथ के कढे हुए कसीदे और जरी के काम के रूमाल, मेजपोश, थालपोश और पलङ्ग-पोश रोज हजारो की तादाद मे विकते है, जिन पर लिखा होता है—'ससार के सब सुखो का मूल शान्ति है।' जापानी मठो और मन्दिरो पर भी—विशेषत' जहाँ भिक्षुणियाँ रहती है—आज यही अथवा भगवान बुद्ध के अन्य शान्तिपूर्ण वाक्य लिखे मिलते है। सन् १८१७ मे जब रूस, जर्मनी और फ्रान्स ने मिलकर जापान पर आक्रमण किया और उसे बुरी तरह परास्त किया, तो जापानी स्त्रियो ने अपनी एडी से चोटी तक का जोर शान्ति-स्थापना के लिये लगाया और युवको को बरबस देश की शान्ति को खतरे मे डालनेवालो से लडने को भेजा। पर जापान ने जब शान्ति के लिये नही, बल्कि प्रतिहिसा के लिये सन् १९०४ मे युद्ध का बिगुल बजाया, तो इन्ही स्त्रियो ने युद्ध-विरोध के लिये अपने प्राणो की बाजी लगा दी। इसे जापान के लडाकू अधिकारी फूटी आँखो भी नही देख सकते थे, अत उन्होने हजारो ही स्त्रियो को सरे-बाजार गोली से उडवा दिया—सिर्फ शान्ति का प्रचार करने के अपराध पर!

इङ्गलैण्ड

अब जरा सभ्यता और विज्ञान मे ससार की नाक बननेवाले पश्चिम की ओर चलिये। सबसे पहले हम इङ्गलैण्ड को लेते है। स्थिति के कारण इङ्गलैण्ड की शान्ति सदा खतरे मे रही है। पहले इसे घरेलू झगडो से शान्ति नही मिली। फिर जब यह कुछ बलवान हुआ, तो इसकी दृष्टि बाहरी राष्ट्रो और उपनिवेशो पर पडी। किन्तु शासको की इस मनोवृत्ति के बावजूद वहाँ की स्त्रियो ने सदा शान्ति के लिये प्रयत्न किया है। धार्मिक-दमन और उपद्रवो के अलावा आक्रमणो के परिणाम-स्वरूप इङ्गलैण्ड मे जो युद्ध हुए है, उनमे से अधिकाश पुरुष-शासको के समय मे ही हुए।

एडवर्ड तृतीय ने जब कैले पर आक्रमण किया और घेरा डाल लिया, तो उनकी रानी उन्हे इस विग्रह से विमुख करने के लिये स्वय जहाज मे बैठकर युद्ध-क्षेत्र मे गई थी। महारानी एलिजावेथ, ऐन और विक्टोरिया के समय मे भी शान्ति-स्थापना का विशेष प्रयत्न हुआ है। कुमारी फ्लोरेंस नाइटिंगेल का नामोल्लेख किये विना यह प्रसङ्ग अधूरा कहा जायगा। १८५४-५६ के क्रीमियन युद्ध मे घायल सैनिको की सेवा-शुश्रूषा करने के कारण कुमारी नाईटिंगेल का नाम इङ्गलैण्ड के इतिहास मे कृतज्ञतापूर्वक उल्लिखित हुआ है। पर हमारी समझ मे तो शान्ति के एक मिशनरी के रूप में उनका नाम विश्व के इतिहास मे चिरस्मरणीय रहेगा। घायल सैनिको की मरहम-पट्टी करते समय कुमारी नाइटिंगेल ने उन्हे घरवालो की याद नही दिलाई, घावो के कारण उनके प्रति सवेदना अथवा सहानुभूति नही प्रकट की, वल्कि इस गाढे समय मे नाईटिंगेल ने उन्हे याद दिलाई युद्ध की विभीषिका की, अपार जन-सहार की, उनके अङ्ग-भङ्ग की और उनसे अनुरोध किया कि ठीक होनें पर खुदा के लिये वे कभी फिर युद्ध मे भाग न ले। घोर अँधेरी रात मे साँय-साँय करती हुई साइबेरिया की उस बर्फीली हवा का अनुमान तो कीजिये। ऐसी हवा के झपेटो से वाते करती हुई, अपने दुबले-पतले शरीर को फर और मोटे ऊनी कपडो मे लपेटें, हाथ मे एक धीमा-सा लम्प लिये, लाशो को रौंदती और घायलो से ठोकर खाती, श्मशान बनी युद्ध-भूमि मे काँपती हुई नाईटिंगेल अकेली कई रातो घूमती रही। लेम्प के धीमे प्रकाश की सहायता से वह हताहत सैनिको के चेहरे देखती जाती। जहाँ कही गहरे घावो या अधिक रक्त-स्राव के कारण वेहोश कोई सैनिक मिल जाता, वही वह रुक जाती और लेम्प पर केटली में थोडा-सा पानी गरम कर उसके घावो को धोती और दवा लगाती। होश आने पर वह सैनिक को खेमे में लाती और समझाती कि देखो भविष्य मे लडाई मे मत जाना। लड कर इस प्रकार प्राण गँवाना अच्छी वात नही है। कहते है कि बाद मे जव इङ्गलैण्ड के अधिकारियो

को कुमारी नाईटिंगेल के इस युद्ध-विरोधी प्रचार का पता चला, तो उनके बहुत से प्रशसक ही उनके निन्दक बन गये और उन पर सैनिको को बरगलाने का नीचतापूर्ण लाञ्छन भी लगाया जाने लगा।

जर्मनी

शासन मे सैनिको का विशेष प्रभाव रहने के कारण जर्मनी मे शान्ति सदा खतरे मे रही है और जब-जब वहाँ की स्त्रियो ने शान्ति-रक्षा का प्रयत्न किया, उन्हे इसका गहरा मूल्य चुकाना पडा है। १६वी शताब्दी मे जब जर्मनी के प्रधान-मन्त्री ओटो बिस्मार्क ने खूनी और फौलादी नीति की घोषणा की और जर्मन युवको को सामूहिक रूप से समराग्नि मे झोकने का यत्न किया, तो स्त्रियो ने ही युद्ध के विरुद्ध जेहाद बोला। इसका परिणाम वही हुआ, जो किसी निरकुश स्वेच्छाचारी शासक की अवज्ञा का हो सकता था। स्त्रियो को गोलियो से भून डाला गया! विगत दोनो महायुद्ध के समय जब वहाँ की स्त्रियो ने युवको को युद्ध-क्षेत्र मे जाने से रोका, तो निरकुश कैसर ने भी उन्हे यही पुरस्कार दिया! गत महायुद्ध मे जर्मन चान्सलर हर हिटलर के शासन-काल मे भी उनकी युद्ध-विरोधी आवाज और आन्दोलन को जिस क्रूरता और अमानुषिकता से कुचला गया वह दैनिक-पत्रो के पाठको से छिपा नही है।

फ्रास

फ्रास की स्त्रियो ने शायद शान्ति के लिये सबसे अधिक प्रयत्न किया है। इसका कारण उसकी राजनीतिक स्थिति है। उसे शान्ति से रहने का अवसर बहुत कम मिला है। कभी उसका पडोसी जर्मनी उसे निगल जाने के लिये मुँह बाये रहा है, तो कभी इङ्गलैण्ड ने जल और स्थल से उस पर आक्रमण किये है। इन्ही बाहरी सङ्कटो के कारण फ्रास की महिलाओ ने शान्ति का महत्व अन्य देशो की महिलाओ की अपेक्षा अधिक समझा और इसके लिये उन्होने अपना अधिकाश समय दिया है। १८७०-७१ के

जर्मन-युद्ध के बाद जब सेना और कम्यूनार्डों मे शासन-सत्ता की बागडोर के लिये झगडा हुआ और युद्ध से नष्ट-प्राय फ्रास को गृह-युद्ध की काली घटाओ ने घेर लिया, तो दोनो रणोद्यत दलो के बीच मे खडे होकर फ्रास की १४ हज़ार स्त्रियो ने घोषणा की कि यदि हमे अपने प्राण भी देने पडे तो कोई बात नही, पर हम देश मे अन्त कलह न होने देगी। पर युद्ध का प्रमाद यो सहज और शीघ्र उतरनेवाला कहाँ ? सैनिक स्वार्थ मे अन्धे हो रहे थे। उन्होने स्त्रियो की उस प्रार्थना को ठुकरा दिया। दोनो ओर से दनादन गोलियाँ बरसने लगी और देखते-देखते पैरिस की वह सडक ३० हजार स्त्री-पुरुषो की लाशो से ढँक गई ! इनमे अधिकाश स्त्रियाँ ही थी। भारत की राजपूत बालाओ के जौहर को छोड कर भला ससार मे इन वीराङ्गनाओ के त्याग की किससे तुलना की जा सकती है ?

रूस

यूरोपीय देशो मे शिक्षा और सभ्यता की दृष्टि से रूस एक दीर्घ काल तक पिछडा हुआ देश रहा है। पर इधर पिछले कुछ वर्षो मे ज़ारो के अत्याचारो और समय-समय पर होनेवाले युद्धो ने उसे शान्ति का मर्म भली-भाँति समझा दिया। क्षेत्रफल के लिहाज से एक विशाल देश होने के कारण उसके शासन-प्रबन्ध मे बडी ढिलाई रही है—खासकर उसकी सेना का प्रबन्ध, सङ्गठन और शिक्षा तो बडी ही असन्तोषजनक रही है, जिसके कारण युद्धो मे प्राय उसे हारना पडा है। युद्ध की हानि से हार का दण्ड कही बदतर होता है। यह दण्ड विशेषत स्त्रियो को भोगना पडा। पुरुषो को मौत के घाट उतरना पडा और वे अनाथ और निराश्रित हो अपने भाग्य को कोसने लगी। आखिर उनके सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि इन युद्धो का एकमात्र कारण है ज़ार का निकम्मा शासन, जिसका मूलोच्छेद ही देश के लिये अभीष्ट है। जारशाही का तख्ता उलटने मे स्त्रियो ने पुरुषो से किसी प्रकार भी कम काम नही किया।

स्वार्थी पुरुष भले ही उनका उपकार न मानें, पर यह ध्रुव सत्य है कि यदि रूस की स्त्रियाँ सहयोग न देती, तो रूसी राज्यक्रान्ति इतनी शीघ्र सफल नही होती। उन दिनो मास्को और पित्रोग्राद मे जो बम फेकनेवाली गुप्त सस्थाएँ बनी थी, उनमे लगभग ४५ प्रतिशत स्त्री-सदस्याएँ थी। उनके साहस का अनुमान इसीसे लगाया जा सकता है कि स्वय ज़ार के महल मे जाकर एक युवती ने बम रक्खा था, जिसे इसका गहरा जुर्माना भी देना पडा। सुप्रसिद्ध भारतीय समाजवादी श्री० एम० आर० मसानी ने अभी थोडे ही समय पूर्व रूस की यात्रा की थी। एक बार आपने अपनी रूसी मार्गदर्शिका (गाइड) से पूछा कि रूस आजकल शस्त्रीकरण क्यो कर रहा है ? तो उसने जवाब दिया—सामूहिक शान्ति के लिये। इसका राजनीतिक अर्थ चाहे जो-कुछ निकाला जाय, पर सच यही है कि वह शान्ति के लिये आज भी व्याकुल है और इसके लिये वहाँ की स्त्रियाँ अब भी सक्रिय हैं।

इटली

सिन्योर मुसोलिनी के शासन-काल मे इटली का सार्वजनिक जीवन उतना ही आतङ्कपूर्ण हो गया था, जितना हिटलर के समय मे जर्मनी का। मुसोलिनी की आज्ञा के विरुद्ध मुँह खोलना वहाँ मौत को निमन्त्रण देना था। पर इसकी परवा न कर स्त्रियो ने शान्ति के लिए बराबर अपनी आवाज बुलन्द की है। पिछले इटली-अबीसीनिया युद्ध के समय मकाले के पतन के बाद इटली से कुछ और सेना अफ्रीका के लिये भेजी जा रही थी। कहते है कि दक्षिणी इटली के एक स्टेशन से जब यह सेना जहाज मे सवार होने के लिये रेल द्वारा नेपल्स बन्दरगाह को रवाना होने लगी, तो इसका विरोध करनेवाली ४५० स्त्रियाँ रेल की पटरी पर लेट गई। इङ्गलैण्ड के एक पत्र मे छपा कि मना करने पर भी जब इन्होंने मार्ग न दिया, तो इन पर गोलियो की बौछार की गई, जिसके फल-स्वरूप लगभग ३५० तो वही

ढेर हो गईं और शेष बुरी तरह घायल हुईं। इटली के पत्रो मे यह समाचार नही छपा। इसके कुछ ही दिन बाद एक और ऐसी ही घटना हुई। जब अफ्रीका जानेवाले सैनिक रेल मे सवार होने के लिये एक स्टेशन की ओर जा रहे थे, तो सडक पर एक जलूस बना कर आती हुई स्त्रियो ने उनका मार्गावरोध किया और उनको युद्ध मे न जाने के लिये कहा। बहुत समझाने-बुझाने पर भी जब उन्होने सैनिको को मार्ग न दिया, तो टेलीफोन द्वारा मुसोलिनी से सलाह ली गई, जिसने कहा कि आखिरी चेतावनी देने पर भी यदि वे मार्ग न छोडे, तो उन्हे गोली से उडा दो। न त्रिया-हठ टल सकती थी और न मुसोलिनी की आज्ञा ही। आखिर यहाँ भी स्त्रियो को सामूहिक बलि चढानी पडी। साथ ही अबीसीनिया की स्त्रियो ने भी अपने देश की शान्ति-रक्षा के लिये जो-कुछ किया, उससे पाठक अपरिचित न होगे। देश की आजादी के लिये वे पुरुषो के कन्धे-से-कन्धा मिलाकर बराबर लडी और मरी।

अमरीका

अब जरा विज्ञान के गढ अमरीका मे चलिए। १८वी शताब्दी तक तो यह एक प्रकार से विच्छिन्न और गृह-कलह के सङ्कट मे ही फँसा रहा। इसके बाद यहाँ जो शान्ति स्थापित हुई, वह स्वभावत महँगी थी और इसीलिये वह अमरीकन लोगो के जीवन का अटल सिद्धान्त बन गई। 'मनरो-डॉक्ट्रिन' इसका एक प्रबल प्रमाण है। हाँ, गत यूरोपीय महायुद्धो मे उसे शामिल जरूर होना पडा, किन्तु जिन्होने महायुद्धो का वास्तविक विवरण पढा है, उनसे यह छिपा नही है कि यह किस लाचारी और स्वार्थो की रक्षा का फल था? आज बडे वैज्ञानिक ढङ्ग से वहाँ शान्ति का प्रचार हो रहा है। प्रत्येक नगर मे युद्ध-विरोधी और शान्ति-प्रचारिणी अनेक सस्थाएँ है, जिनमे से अधिकाश का सञ्चालन स्त्रियाँ ही करती है। स्थानाभाव के कारण हम शान्ति के मिशनरी के रूप मे काम करनेवाली असख्य अम-

रीकन महिलाओ का परिचय यहाँ नही दे सकते। उदाहरण के लिये हम केवल एक भद्र महिला का थोडा-सा उल्लेख यहाँ करेगे। यह है वहाँ की नेशनलिस्ट विमेज कौसिल की उपाध्यक्षा श्रीमती स्टर्नबर्गर, जो 'शान्ति-सम्पादिका' या 'शान्ति की प्रकाशन-मन्त्रिणी' के नाम से अमरीका के घर-घर मे परिचित है। आपकी अवस्था इस समय कोई ६६ वर्ष की है। पर आप नवयुवतियो की-सी शक्ति और फुर्ती के साथ शान्ति-प्रचार का काम कर रही है। आप के हिस्से मे दो मुख्य काम है—एक तो स्कूल-कॉलेजो, आश्रमो तथा सभा-सस्थाओ मे वायर-लैस, टैलीवीजन अथवा मैजिक-लैन्टर्न की सहायता से शान्ति-विषयक भाषण देना और वाद-विवाद तथा शङ्का-समाधान मे भाग लेना, और दूसरा प्रमुख दैनिक, साप्ताहिक, मासिक तथा त्रैमासिक पत्रो मे शान्ति-सम्बन्धी लेख, विज्ञापन और कार्टून आदि छपवाना। इस समय आप कोई ५०० दैनिक और १३८ साप्ताहिक तथा मासिक पत्रो के शान्ति-विभाग की सम्पादिका है। शान्ति-प्रचार आपकी दिनचर्या का एक अङ्ग हो गया है। जिस दुकान पर आप सौदा खरीदने जाती है, उसके दुकानदार को समझाती है कि देखो यदि युद्ध छिड गया, तो चीजो के मूल्य चढ जायँगे और अधिकाश लोगो के युद्ध-क्षेत्र मे चले जाने से तुम्हारी बिक्री कम हो जायगी। लाभ तो दूर रहा, तुम्हारा खर्च निकलना भी कठिन हो जायगा। एक बार मिन्नेसोटा के दो अखबारो के एजेण्टो मे बातचीत हो रही थी कि यदि लडाई छिड जाय तो मजा है, खूब गरमागरम खबरे आयँगी, अखबार अधिक बिकेगे और हमारी आमदनी बढेगी। श्रीमती स्टर्नबर्गर कही उधर से गुजर रही थी। युद्ध शब्द का उल्लेख सुन कर आप उन दोनो के बीच में कूद पडी और बोली कि युद्ध मे आदमी अधिकाशत युद्ध-क्षेत्र मे चले जायँगे और उनकी जगह दफ्तरो व कारखानो मे स्त्रियो को पिसना पडेगा। फिर भला अखबार पढने की फुर्सत किसे मिलेगी ?

ऐसे ही अनेक उदाहरण हमें अन्यान्य देशो के इतिहास मे भी मिलते

है। हमने केवल उन्ही देशो का उल्लेख किया है, जिनका विश्व-शान्ति पर कुछ क्रियात्मक प्रभाव रहा है। वैसे तुर्की, ईरान, मिस्र और स्पेन की स्त्रियो ने भी शान्ति के लिये कुछ कम प्रयत्न नही किया। आयरलैण्ड की स्त्रियो ने भी अपने देश की राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिये कुछ उठा नही रक्खा। मैक्सिको की स्त्रियो ने तो एक वार यह प्रतिज्ञा की थी कि जीते जी वे अपने पति, भाई या पिता आदि को कभी युद्ध मे न जाने देगी।

कहने का तात्पर्य यह है कि विश्व की शान्ति के लिये स्त्रियो ने वडी कीमती कुर्वानियाँ की है। सुख, वैभव और प्राणो का मोह कभी उनकी शान्ति की अखण्ड आराधना मे वाधक नही हुआ। अपने घर की भाँति वे समूचे विश्व को हरा-भरा और फला-फूला देखने को उत्सुक रही है। आज जव ससार दो महायुद्धो की विनाश-लीला देख चुका है, इस वात की महती आवश्यकता है कि माताएँ, वहने, पत्नियाँ और पुत्रियाँ पुरुषो को इसकी पुनरावृत्ति से विरक्त करने की सजग चेष्टा करे।

पञ्जाब की जाग्रत महिलाएँ

आज या किसी आनेवाले कल, जब भी भारतीय महिला-समाज के जागरण का इतिहास लिखा जायगा, हम विश्वासपूर्वक कह सकते है कि पञ्जाब-प्रात का नाम सबसे पहले आयगा। बाजारो मे, मेलो और शादियो मे शिक्षिता और सुन्दर पोशाक धारण किये पञ्जाबी बहनो को देखकर हृदय आनन्द से उछल पड़ता है। पर पञ्जाब की बहनो की जाग्रति केवल उनकी शिक्षा और पोशाक तक ही सीमित नही है; वह उनके जीवन मे, उनके घर मे, उनके प्रात मे बडी गहराई के साथ व्याप्त है।

पञ्जाब ही सर्वप्रथम क्यों ?

भारतीय महिला-समाज के जागरण मे पञ्जाब का स्थान सर्वप्रथम है, इतना कह-भर देने से पाठको को सन्तोष न होगा। उन्हे इसका कारण जानने की भी उत्सुकता होगी। भारत के विभिन्न प्रातो मे नारी को ऊपर न उठने देने मे मुख्य कठिनाइयाँ रही है, परम्परागत रूढिवाद और सामाजिक बन्धन। पर सौभाग्य से पञ्जाब मे रूढिवाद और सामाजिक बन्धनो को अपनी जड गहराई तक पहुँचाने का अवसर नही मिला। इसका एक विशेष कारण है, जो भारत के किसी भी अन्य प्रात के सम्बन्ध मे लागू नही हो सकता। वह यह कि भारत पर उत्तर-पश्चिम से हुई चढाइयो ने पञ्जाब को सदा आबादी और बरबादी के सङ्घर्ष मे जकडे रक्खा है। आत्म-रक्षा और पेट की चिन्ता ने उसे कभी रूढियो और सामाजिक बन्धनो की ओर अधिक ध्यान देने ही नही दिया। दूसरे यवन आक्रमणकारियो का

वहुत-सा भाग पञ्जाव के पडोस मे वस गया और प्रत्यक्ष या परोक्ष, इच्छा से या अनिच्छा से, पञ्जाव को उससे रोटी-बेटी का व्यवहार करना पडा। आक्रमणो का आतङ्क तो कालान्तर मे शान्त हो गया, पर वह अपनी अमिट छाप पञ्जाब पर छोड गया। अपने नये पडोसियो के सम्पर्क और जीवन-सग्राम की कष्ट-साध्यता ने पञ्जाब के सामाजिक और धार्मिक वन्धनो को ढीला कर दिया। वह समय तो बीत गया, पर आज भी पञ्जाव मे सामाजिक और धार्मिक वन्धन भारत के अन्य प्रान्तो की अपेक्षा अधिक ढीले, लचीले और दुर्बल है।

पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव

यवन-काल के वाद भारत मे अङ्गरेज आये। ये लोग पूर्ववर्ती आक्रमणकारियो की भाँति उत्तर-पश्चिम से न आकर पश्चिम-दक्षिण से आये, पर इनसे पूर्व इनकी हवा पञ्जाव मे पहुँच गई। यवन-राज्य के पतन और अङ्गरेज़ी शासन की स्थापना से पूर्व पञ्जाब मे सिक्खो का प्रभुत्व रहा। पर उनका कोई विशेष और स्थायी प्रभाव नही हुआ, क्योकि उन्होने अपना एक पृथक् मत वना लिया। किन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि उनके शासन ने पञ्जाब के धार्मिक और सामाजिक बन्धनो को ढीला करने मे कुछ-न-कुछ सहायता ही पहुँचाई।

पर आधुनिक पञ्जाव के सामाजिक जीवन पर अगर सबसे अधिक असर किसी का हुआ है, तो इसी पश्चिमी सभ्यता का। धार्मिक और सामाजिक बन्धनो की शिथिलता के कारण पञ्जाव ने पाश्चात्य सभ्यता को जिस शीघ्रता और सहूलियत के साथ अपना लिया, भारत के किसी दूसरे प्रान्त ने नही। कही-कही तो पाश्चात्य सभ्यता का यह रङ्ग इतना गहरा हो गया है कि विशुद्ध भारतीयता के प्रेमी चौक भी उठे है। पर यह सर्वथा स्वाभाविक है, क्योकि पाश्चात्य सभ्यता में सब-कुछ ऐसा नही है, जिसे अपनाकर भारतीयता के मोह की रक्षा भी की जा सके।

शिक्षा का बढता हुआ प्रचार

पञ्जाब की बहनो को घर से बाहर लाने और समाज मे आगे बढाने का एकमात्र नही तो सबसे अधिक श्रेय शिक्षा को है। पञ्जाब के हर नगर, कस्बे और बडे गाँव मे कन्याओ की शिक्षा का प्रबन्ध है। पञ्जाब-सरकार ने स्वत स्त्री-शिक्षा के प्रचार की ओर इतना ध्यान नही दिया, जितना स्वय महिलाओ ने दिया और दिलवाया। आज पञ्जाब के साधारण-से-साधारण परिवार मे भी कोई ऐसी कन्या न मिलेगी, जो निरक्षर हो। हमने तो देखा है कि अब लडको की पढाई पर उतना ध्यान नही दिया जा रहा, जितना कि लडकियो की। यही कारण है कि आज पञ्जाब मे विद्यालयो की सख्या असाधारण गति से बढ रही है। कॉलेजो मे पढनेवाली बहनो की सख्या भी कम नही है, और कई बार तो उन्होने अपनी प्रतिभा का ऐसा परिचय दिया है कि पुरुष भी दङ्ग रह गये है।

पर यह न समझना चाहिये कि पञ्जाब की बहनो की शिक्षा केवल पुस्तकीय ज्ञान तक ही सीमित है। बहुत-सी बहनो ने डॉक्टरी, नर्स, अध्यापन, सिलाई-बुनाई और दन्दानसाजी मे विशेष योग्यता प्राप्त कर अपनी प्रतिभा का खासा अच्छा परिचय दिया है। दर्जनो बहने विदेश हो आई है। अब तो प्रतिवर्ष कुछ-न-कुछ बहने अध्यापन या डॉक्टरी की विशेष योग्यता प्राप्त करने विलायत जाती है। अभी थोडे ही दिन हुए श्रीमती दत्त की अध्यक्षता मे पञ्जाबी युवतियो का एक दल यूरोप की सैर करके लौटा है। हम समझते है कि इन बहनो का भ्रमण अन्य ज्ञान-पिपासु बहनो को भी विदेश मे जाकर ज्ञानार्जन करने को उत्सुक बनायेगा और पञ्जाब के स्त्री-समाज मे शिक्षा की लहर और भी प्रबलता के साथ आगे बढेगी।

सामाजिक उन्नति और विकास

शिक्षा ने पञ्जाब की बहनो के जीवन को आमूल-चूल बदल दिया है।

पर्दा तो वे एक युग हुआ फाड चुकी थी, अब जो थोडा-बहुत लोग-दिखाऊ पाखण्ड और झिझक थी, उसे भी बडे साहस के साथ उन्होंने ठुकरा दिया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि आज सामाजिक जीवन मे यदि स्त्रियो का पलडा पुरुषो से भारी नही है, तो हल्का भी नहीं है। वे समाज के हर क्षेत्र मे पुरुष के समान भाग लेती है। सत्कार्यो मे उसे सहयोग देती है और अपनी इच्छा और अधिकारो के प्रतिकूल होनेवाली बात का निर्भीकता और दृढता से विरोध करती है। शिक्षित महिला-समाज मे पुरुषो के अत्याचार और ज्यादतियाँ एक प्रकार से अतीत की गाथाएँ हो गई है। बचपन की शादियाँ अपने-आप उठ गई है, पुराने ढोंग-धतूरे लुप्त हो रहे है, धर्म और जाति-पाँति की विडबना मिट रही है। काफी विवाह जाति-पाँति तोड कर और प्राय वर-वधू की सहमति से होते है। इसका एकमात्र श्रेय पञ्जाबी बहनो को ही है, जिन्होंने पुरुषो का हृदय और समाज का कलेवर ही बदल दिया है। हम तो यहा तक कहेंगे कि पञ्जाब की बहनो ने पुरुषो पर विजय पाई है।

मुस्लिम बहने पिछडी है !

ऊपर हम जो-कुछ कह आये है वह अधिकाशत हिन्दू या सिक्ख बहनो के सम्बन्ध मे ही लागू होता है। दुर्भाग्यवश पञ्जाब की मुस्लिम बहने एक प्रकार से इस नारी-जागरण के युग का अपवाद बनी हुई है। उनमे से साधारण घरानो की बहने तो प्राय शिक्षा से दूर ही रहती या रखी जाती है। जो कुछ पढती है, तो वे कॉलेज तक मे भी बुरका नही छोडती और फिर शिक्षा समाप्त करने के बाद तो बुरका उनके जीवन के साथ ही छूटता है। अभी पिछले दिनो पञ्जाब-असेम्बली की मुस्लिम सदस्याएं बुरके मे ही असेम्बली मे आई और बुरके मे से ही भाषण दिये ! मै तो समझ ही नही सका कि पढ-लिखकर भी हमारी ये बहने बुरके का मोह क्यो और कैसे नही त्याग सकी ? यही कारण है कि आज पञ्जाब के सार्व-

जनिक जीवन मे केवल पुरुषो का प्राधान्य है और मुसलमानो मे स्त्री-शिक्षा हिन्दुओ और सिखो की अपेक्षा शायद दशाश भी नही है ।

कुछ मुस्लिम महिलाएँ भी ऐसी है जिन्होने पर्दे को ठुकरा दिया है और जाति के मुल्ला-मौलवियो के शोर-गुल का खयाल न कर आगे बढ रही है । बेगम शाहनवाज और लेडी अब्दुलकादिर शायद इनमे प्रमुख है । अपने व्यवहार और प्रतिभा से उन्होने न केवल पञ्जाब या भारत मे ही, बल्कि विदेशो मे भी ख्याति प्राप्त की है । हम तो कहेगे कि जब तुर्की, मिस्र, अरब, ईरान, इराक, अल्बानिया आदि की मुस्लिम महिलाओ ने पर्दा त्याग दिया और आज वहाँ के सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन मे आगे बढ रही है, तो पञ्जाब की मुस्लिम बहने गुलामी के इस चोले को उतार फेकने मे विलम्ब क्यो कर रही है ? क्या उन्हे प्रकाश और स्वतन्त्रता प्रिय नही है ?

फ़ैशन-परस्ती का रोग

पर हमारा यह लेख अधूरा ही समझा जायगा यदि हम पजाब मे तीव्र गति से फैलनेवाली एक सक्रामक बीमारी का जिक्र न करे । वह महामारी है—'फैशन-परस्ती' । खुशबूदार तेल, पाउडर, क्रीम, स्नो, सेट, लिपस्टिक आदि का प्रचार पजाब मे बेहद बढ रहा है । कपडो और जूतो का फैशन तो इतना बढ रहा है कि वर्ष मे शायद दो-एक डिज़ाइन नये आविष्कार किये जाते होगे । विवाह, उत्सव और मेलो आदि को जाने दीजिये; आमतौर पर बाजारो मे से गुजरने और प्रात -साय वायु-सेवन को जानेवाली महिलाएँ भी ऐसे चटकीले-भडकीले और बारीक कपडे पहनती है कि जिनसे उनकी 'लाज ढँकने' की मर्यादा का पालन की अपेक्षा उल्लङ्घन ही अधिक होता है । देश की दरिद्रता को ध्यान मे रखते हुए यदि पजाबी बहने फैशन-परस्ती को कम कर बङ्गाल और गुजरात की भाँति सादगी को अपना सके, तो शायद उनसे प्रान्त और देश को विशेष लाभ हो । किसी अश तक

कुछ पञ्जाबी बहनों ने पाश्चात्य सभ्यता का अन्धानुकरण करते हुए कई ऐसी बातों को भी अपनाना शुरू किया है, जो शायद भारतीय नारी के लिए शोभा और गौरव का हेतु नहीं है। क्या ही अच्छा हो यदि पञ्जाब की जाग्रत महिलाएँ इस फैशन-परस्ती के कलङ्क को धो बहावें।

नारीत्व की लाञ्छना

शास्त्रकारो ने जिस नारी को पूजनीया एव वन्दनीया बतला कर घर, परिवार और समाज के मूर्द्धन्य पर आसीन किया है, कवि ने जिसके आँचल के दूध और आँखो के पानी को कल्पना और वाग्विलास के सहारे काव्य का गौरव प्रदान किया है तथा चित्रकार ने जिसके कटि-कुच-नासिका-नयन को अधिकतम काम्य रूप देकर अपनी निर्जीव तूलिका को अमर बनाया है, वही नारी आज युद्ध-क्षेत्र से अवैध गर्भ-धारण का पाप, बलात्कार का आघात और यौन-व्याधियो की विरासत लेकर लौटी है ! आज उसे देख कर हमारे मन मे पूजा या वन्दना के भावो का उद्रेक नही होता । आज उसके निस्तेज-कृश शरीर को देख कर कवि को शृगार की प्रेरणा नही मिलती और न उसके रँगे-पुते होठो, नाखूनो या गालो को देख कर किसी चित्रकार का अपनी तूलिका ही उठाने को मन करता है । आज कल्पना और कला-लोक की वह रगीन मूर्त्ति मानो खण्डित होकर अनेक प्रश्नसूचक चिन्हो के रूप मे एक स्थूल यथार्थता बन हमारे सामने खडी है । आज तो मानो उसके आँचल का दूध ही उसकी आँखो का पानी बन कर दुनिया की दया और सहानुभूति की भीख माँग रहा है । क्या उसे यह भीख मिलेगी ? पर यदि यह भीख उसे मिल भी जाय, तो क्या वह इससे अपनी अरक्षा की कुण्ठा और आशका दूर कर पायगी ? किन्तु कब तक ?

गत १६ फरवरी, १९४६ के 'ब्लिट्ज' मे भारतीय महिला-सहायक-दल की १०० सदस्याओ की ओर से जो पत्र छपा है, वह भारत की दुर्बल नारी की ओर से ऐसी ही भीख माँगता-सा जान पडता है । पत्र मे कहा गया है कि इन भारतीय महिलाओ को न सिर्फ रग-भेद के कारण अपमान की कडुवी घूँटे ही पीनी पडी, बल्कि प्रलोभन देकर अथवा दबाव डाल कर

इनकी इज्जत भी लूटी गई, इन्हे पतित किया गया और इनकी रही-सही प्रतिष्ठा तथा गौरव को भी नष्ट कर दिया गया। इनमे से बहुतो को अवैध रूप से माता बनना पडा, बहुतो को जबरन गर्भिणी बनाया गया और बहुतो के साथ बलात्कार हुआ, जिसके परिणाम-स्वरूप बहुत-सी गर्मी, सुज़ाक आदि यौन-व्याधियो से पीडित हो गई है। बहुतो को नाचने, गाने, शराब पीने तथा अफसरो का मनोरजन करने के लिए भेजा गया। बहुत बार कई लडकियाँ शराब के नशे मे बेहोश गली-सडको पर पडी पाई गई, जहाँ से उठा कर उन्हे निवास-स्थान पर पहुँचाया गया। ऐसी कई पीडित लडकियो को गर्भपात करवाना पडा और कइयो ने लज्जा एव ग्लानि के कारण आत्महत्या भी कर ली। जहाँ ये शिकायते की गई है, वहाँ लडकियो की ओर से कई तथ्यो को स्वीकार भी किया गया है। लडकियो ने माना है कि झूठे वादो और गलत प्रोपेगेण्डा के कारण वे अपने घरो और परिवारो से छीन ली गई, उन्हे अस्वाभाविक वातावरण मे रक्खा गया, उन पर किसी तरह का नियन्त्रण नही था और चारो ओर रँगरलियो का बाजार गरम था। यह बात भी स्वीकार की गई है कि बहुत-सी जवान लडकियाँ ऊँचे-ऊँचे मनसूबे लेकर दल मे भर्ती हुईं और बहुत-सी जान-बूझ कर इसलिए प्रलोभनो मे फँस गईं कि उन्हे किसी प्रकार की सुविधा प्राप्त न थी। कुछ ने अपनी अज्ञानता भी स्वीकार की है। अस्तु।

ये बाते काफी गम्भीर है। अधिकारियो ने इन आरोपो की आशिक सत्यता स्वीकार करके भी बिना किसी निष्पक्ष जाँच के इन्हे अतिरजित तथा असत्य बतला दिया है। परन्तु सुप्रसिद्ध लोकसेविका श्रीमती हसा मेहता तथा श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय का समर्थन प्राप्त होने और सरकार द्वारा आशिक स्वीकृति के बावजूद इनकी खुली जाँच करवाने की अनिच्छा को देखते हुए मूल रूप से इनकी यथार्थता मे सन्देह नही किया जा सकता। जो-कुछ भी हो, यह समस्या राजनीतिक से कही अधिक सामाजिक है। किन्तु हमे यह देख कर आश्चर्य हुआ कि पत्रो, व्यक्तियो

एव सस्थाओ द्वारा इसे सामाजिक की अपेक्षा राजनीतिक महत्व ही अधिक दिया गया है। इसमे कोई सन्देह नही कि रग-भेद के कारण इस दल की सदस्याओ को जिन असुविधाओ, असमानताओ एव अपमानो का शिकार होना पडा है, उनकी राजनीतिक अहमियत कम नही है। पर वह एक पृथक् और व्यापक प्रश्न है, जिसके शिकार केवल भारतीय महिलाएँ या फौजी ही नही, समस्त देशवासी है—और वह भी अकेले भारत या ब्रिटिश साम्राज्य मे ही नही, ससार-भर मे। रग-भेद का मुख्य कारण भारत की राजनीतिक गुलामी है, और यह कहना गलत न होगा कि इसके अन्त के साथ ही सर्वांश मे नही, तो अधिकाश मे रग-भेद का भी अन्त हो जायगा। पर नारी के तथाकथित पतन और उसके साथ हुए बलात्कार का प्रश्न सर्वथा हमारा अपना और सामाजिक है, जिसका हल राजनीतिक स्वतन्त्रता-मात्र से ही नही हो जायगा। यहाँ हम उसके सामाजिक पहलू पर ही विचार करेगे।

मानव-सृष्टि के आदि-काल से नर और नारी का स्वाभाविक सम्वन्ध पहले शारीरिक रहा है, फिर और कुछ। दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि भूख और भोग ही दोनो का समान धर्म रहा है। इसकी पूर्त्ति मे दोनो एक-दूसरे के साथी-सहयोगी रहे है। 'नियम' या 'अधिकार'-जैसे प्रश्न उनके सामने तब नही थे। दोनो मे से किसको कम और किसको अधिक भूख-भोगेषणा महसूस होती थी और एक के सहयोग-सहायतार्थ प्रस्तुत न होने पर दूसरा क्या करता था, इस सम्बन्ध मे सप्रमाण कुछ नही कहा जा सकता। पर मानव-विकास के चक्र की प्रागैतिहासिक काल की कहानियो से यह आभास जरूर मिलता है कि प्रकृतिश अधिक वलवान होने के कारण पुरुष नारी की अपेक्षा अधिक बलात्कारी, स्वेच्छाचारी एव निरकुश रहा है। जब उसे भूख लगती, जल-थल-नभ से जो भी मिल सकता था, छीन, तोड, काट, मार, खोद या अन्य उपायो से प्राप्त कर वह अपनी क्षुधा शान्त करता था। इसी प्रकार भोग की इच्छा होने पर उसे जब, जहाँ,

जो भी नारी मिलती, उसकी इच्छा-अनिच्छा अथवा स्वीकृति-सहमति की परवाह किए बिना ही वह अपनी भोगेषणा शान्त करता था। (नारी के अभाव मे कई वार उसने अनेक प्रकार के अप्राकृतिक उपायो तथा पशुओ से भी ऐसा किया है।) नारी की इच्छा-अनिच्छा अथवा स्वीकृति-अस्वीकृति, उसके साथ भोग करने के अधिकार-अनधिकार तथा इस कृत्य के परिणाम आदि की चिन्ता करना तब तक वह सीखा ही नही था।

पर स्मरण रहे, यह आदि-काल की बात है। ऐसे आचरण को देख कर, पुरुष को केवल वर्बर अथवा वलात्कारी कहने से ही काम न चलेगा। अपने मन या इच्छा से अधिक उससे यह सब करवाना प्रकृति का काम था। अज्ञान के कारण प्रकृति पर उसका कोई वश न होकर उस पर प्रकृति का ही अधिकार था। भूख-भोगेषणा के तकाजो को दबाने की न उसे कोई जरूरत देख पडती थी और न कभी उसने इनकी पूर्ति मे कोई सामाजिक अथवा नैतिक निषेध की ही सृष्टि की। जल, थल और नभ पर किसी का अधिकार न था, अत अपनी भूख मिटाने के लिए पशु-पक्षियो का शिकार करने अथवा कन्द-मूल-फल प्राप्त करने के मार्ग मे उसे किसी प्रकार के अवरोध-विरोध अथवा प्रतिद्वन्द्विता का सामना नही करना पडता था। पर जब सुगमता और प्राचुर्य से खाद्य मिलनेवाले स्थानो पर एक से अधिक पुरुषो की दृष्टि जमी, तो वलपूर्वक उसने उत्तम स्थानो को अपने एकाधिकार मे कर लिया—अर्थात् कुछ भू-भागो को पुरुष-विशेष अपनी सम्पत्ति समझने लगा। लगभग यही वात भोगेषणा की तृप्ति के सम्वन्ध मे भी हुई। नारी के शारीरिक एव मानसिक अवरोधो के सिवा—जिन पर वह अपने शरीर-वल से सहज ही विजय प्राप्त कर लेता था—उसके सामने सवसे वडी वाधा थी दूसरे नर या नरो की प्रतिद्वन्द्विता की, जो उसीके समान अपनी भोगेषणा की तृप्ति के लिए वलात्कार की शरण लेते थे। अत नारी को 'प्राप्त' करने के लिए उसे अकसर प्रतिद्वन्द्वियो से

सघर्ष करना पडता था और 'विजयी' होने पर भूमि ही की तरह वह नारी को भी अपनी 'सम्पत्ति' समझ कर अधिकारपूर्वक ग्रहण करता था।

किन्तु आदि-कालीन मानव का ज्यो-ज्यो विकास होता गया, त्यो-त्यो उसके भूख-भोगेषणा की पूर्त्ति के ढग भी बदलते-सुधरते गए। ज्यो-ज्यो वह 'सभ्य' होता गया, शरीर ही की तरह उसने अपने मन और शरीर के व्यापारो को भी ढँकना शुरू किया। परन्तु उसके जीवन का मूल धर्म कभी नही बदला, समयानुसार उसके बाह्य रूपो मे परिवर्तन अवश्य होते गए। उसके अब तक के विकास का सारा इतिहास उसके जीवन के इसी मूल सत्य की नग्नता एव उसकी अभिव्यक्ति की बाह्य कुरूपता को कम करने अथवा ढँकने—नर-नारी की भूख-भोगेषणा की तृप्ति को दोनो के लिए अधिकाधिक सुगम, स्वस्थ, सुखद, स्वाभाविक, ऐच्छिक एव समान स्वातन्त्र्यपूर्ण बनाने—के प्रयास एव सघर्ष का ही इतिवृत्त है। युगातीत सघर्षो, षड्यन्त्रो एव रक्तपात के बाद उसने यह समझा कि जब सभी नर-नारी मे भूख-भोगेषणा समान रूप से है, एक की उभयेषणा की तृप्ति दूसरे के मार्ग मे बाधक नही होनी चाहिए। यह अस्वाभाविक एव अदूरदर्शितापूर्ण बाधा ही सारे सघर्ष, प्रतिद्वन्द्विता अथवा झगडो की जड है। इसे हम नर-नारी मे व्यष्टि से समष्टि की भावना या सामाजिकता का उदय कह सकते है। शरीर अथवा अस्त्र-बल से लड कर सारे मसले हल करने के बजाय, जब मानव ने बुद्धि अथवा समझ से काम लेना शुरू किया, सघर्षो का स्थान समझौतो ने ले लिया और निरकुश स्वेच्छाचार का स्थान आचरण के सामाजिक नियम-कानूनो ने। अब वह कितना ही भूखा क्यो न हो, किसी के भी खेत से अनाज या किसी की भी दुकान या घर से खाद्य लेकर भूख मिटाना अनुचित, गैरकानूनी और चोरी समझने लगा। सामाजिकता अथवा सामूहिक जीवन की भावना के कारण मानव-समाज मे ऐसी शक्ति आ गई कि इस तरह अवैध आचरण करने-वालो को दण्डित एव बहिष्कृत किया जाने लगा। भोगेषणा की तृप्ति

के मार्ग मे तो यह सामाजिक अवरोध और भी कडा साबित हुआ। उससे कितना भी व्याकुल होने पर नर का चाहे जिस स्थान पर और चाहे जिस नारी से उसकी इच्छा के विरुद्ध भोगेषणा की तृप्ति करना पाप और अनीति-पूर्ण समझा जाने लगा।

पर मानव-समाज इस दिशा मे विशेष आगे नही वढा। धर्म, जाति, रक्त, वर्ण आदि के नाम पर नर-नारी के वीच मे अनेक नई ऊँची दीवारे खडी हो गई। शरीर ही की तरह सबका बौद्धिक विकास भी एक-सा नही हुआ है। बकौल हेवलक एलिस के सभ्य और सस्कृत मानव वडा कपटी जीव हो गया है। अपने सकीर्ण स्वार्थो के लिए समाज को उसने अनेक देशो, जातियाँ, धर्मो, वर्णो और रक्त-श्रेणियो मे वॉट दिया है। एक दिन जो निर्द्वन्द्व एव निर्वस्त्र नर-नारी पहाडो-जगलो-मैदानो मे घूमते और विना किसी शर्म या झिझक के जव और जहाँ भी इच्छा हुई अपनी भूख-भोगेषणा पूरी कर लिया करते थे, आज उन्होने अपने वीच मे न सिर्फ वस्त्राभूषणो और ईट-पत्थरो की दीवारे ही खडी कर ली है, वल्कि देश, जाति, धर्म, कानून, वर्ग, वर्ण, दासता, शोपण आदि के रूप मे न-जाने कितने विभाजक पर्दे और दीवारे भी खडी कर ली है। इनमे से कुछ का, किसी हद तक, औचित्य एव आवश्यकता स्वीकार भी की जा सकती है, पर अधिकाश ने तो नर-नारी के सम्वन्धो को काफी कटु, अस्वाभाविक एव पाशविक वना दिया है। जिस प्रकार जमीन पर 'शासक', 'सरकार' या 'राष्ट्र' के नाम पर मुट्ठी-भर लोगो ने अधिकार जमाकर उत्पादन के सारे साधनो को अपनी वपौती वना लिया है और अधिकाश लोगो को भूखो मरने पर मजबूर किया है, उसी प्रकार धर्म, जाति, रक्त, वर्ण, समाज और राष्ट्र के स्वयभू धनी-धोरियो ने नर और नारी के सहज स्वाभाविक सम्वन्ध को भी एक खासा अच्छा व्यवसाय वना दिया है। इसका दुष्परिणाम यह हुआ है कि जो वयस्क व्यक्ति पैतृक सम्पत्ति, उच्च पद अथवा अच्छी आय के न होने पर अपनी जाति, धर्म, वर्ण और समाज मे अपना साथी

'खरीदने' की क्षमता नही रखते, वे दुराचरण या वेश्या-वृत्ति की शरण भले ही ले, 'विवाह' नही कर सकते। आज नर और नारी का सम्बन्ध बहुत-कुछ उनके वश के बाहर की-सी बात हो गई है। सभ्यता, सयम और सुरक्षा के नाम पर उस पर पवित्रता, धार्मिकता, नैतिकता और सच्चरित्रता का जो मुलम्मा चढाया गया है, उसने इसे एकदम कृत्रिम, खोखला और अस्वाभाविक बना दिया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि नर और नारी का यह सहज-स्वाभाविक सम्बन्ध कानून और धार्मिक रस्म बन कर अपनी स्वाभाविकता एव स्वतन्त्रता खो चुका है। अधिकाश घरो मे तो आज यह धर्म या कानून-सम्मत बलात्कार अथवा व्यभिचार के रूप मे ही कठिन साँसे लेता नजर आ रहा है।

पाषाण और धातु-युग का मानव आज कितना भी सभ्य, उन्नत एव वैज्ञानिक विचारवाला क्यो न हो गया हो, पर पूँजीवादी समाज-व्यवस्था के कारण उसके समग्र जीवन का दृष्टिकोण एकमात्र पैसे से प्रभावित है। इस युग मे मनुष्यो के तन और मस्तिष्क पैसे से खरीदे जाते है। जिस प्रकार धनाढ्य व्यक्ति चाहे जितने सुस्वादु व्यजन खरीद कर अपने उदर और रसना की तृप्ति कर सकता है, उसी प्रकार वह भोगेषणा की तृप्ति के लिए भी चाहे जितनी नारियो के शरीर खरीद सकता है। जिनके पास पैसा नही या कम है, वे वय-प्राप्त एव स्वस्थ होने पर भी निकृष्ट एवं अप्राकृतिक उपायो का अनुसरण करते है। इसने नर और नारी के दृष्टिकोण को सर्वथा दूषित कर दिया है। इसीलिए आज नर के लिए नारी भोग की अन्य वस्तुओ की तरह ही एक खरीदी जा सकनेवाली चीज हो गई है। नर के इस दूषित दृष्टिकोण ने नारी को निरक्षर एव अज्ञान-ग्रस्त रख कर आज ऐसा निर्जीव और नासमझ बना दिया है कि वह अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व एव पृथक अस्तित्व को भूल-सी गई है। इसी भूली, खोई और अज्ञान-ग्रस्त नारी को नर ने वन्दनीया, पूजनीया, आत्म-त्याग की प्रतीक और न-जाने क्या-क्या काव्यात्मक सज्ञाएँ देकर अपनी

चिर-दासी वना लिया है। ऊपर हमने भारतीय महिला-सहायक-दल की सदस्याओ के जिन आरोपो का जिक्र किया है, वे इसी दासता, अज्ञान और रूढिगत कुसस्कारो से ग्रस्त दुर्बल और भूली-खोई नारी की चीत्कार-मात्र है। वह घर की चहारदीवारी छोडकर वाहर युद्ध-क्षेत्र मे आई, इसलिए उसे ऐसा कटु अनुभव हुआ हो, ऐसी वात नही है। आए दिन समाज मे—घरो मे और घरो के वाहर—उसके साथ ऐसा ही वर्त्ताव होता है, और इसके विरुद्ध इस तरह की चीत्कार अथवा अदालतो की ड्योढी नापने के सिवा उसके सामने जैसे और कोई चारा ही नही।

इन अभागी महिलाओ के आरोपो को ले कर जितना वडा राजनीतिक तूफान देश मे उठा, उतना वडा सामाजिक भूकम्प नही आया। इससे यह अनुमान करना वेजा न होगा कि नारीत्व की इस तीखी लाछना को भी चुपचाप सह लेने की हम लोगो मे कितनी क्षमता है। जहाँ नारी देवी, गृहलक्ष्मी, माँ और न-जाने किन-किन पवित्र नामो से सम्वोधित की जाती हो, वहाँ उसका यह घोर अपमान सभा-सम्मेलनो मे पास हुए चन्द प्रस्तावो और धारा-सभा मे पूछे गए कुछ प्रश्नो के सिवा समाज मे कोई गहरी और तीव्र प्रतिक्रिया पैदा न कर सका यह कम खेद और शर्म की वात नही है। पर पुरुषो से अधिक हमे इसकी शिकायत स्त्रियो से है। यह उनके अपने सम्मान, स्वाभिमान और गौरव का प्रश्न है। चरित्र और नैतिकता के रूढिगत आदर्शो मे विश्वास न होने पर भी हम इतना तो अवश्य ही कहेगे कि इस युग मे भी जो नारी पुरुष के वलात्कार से अपनी रक्षा नही कर सकती, उसे किसी से इस वात की शिकायत नही करनी चाहिए। एकाध लडकी के साथ किसी सैनिक ने छेड-छाड या वलात्कार किया होता, तो उसे एक अकस्मात और नारी के शारीरिक दौर्वल्य के कारण हुई दुर्घटना कह कर नजर-अन्दाज़ किया जा सकता था। पर जहाँ सैकडो जवान लडकियाँ रह रही हो और महीनो तक सामूहिक रूप से उनके साथ जोर-ज़वरदस्ती की जाती रहे और वे सिर्फ

भारत-रक्षा-कानून के डर से इसका भण्डाफोड न करे और न कोई सक्रिय सामूहिक विरोध ही, इस पर सहसा विश्वास नही किया जा सकता। फिर बहुत-सी लडकियो का यह स्वीकार करना कि पदोन्नति के झूठे वादो, भविष्य के बड़े-बडे मन्सूबो, किसी प्रकार का नियन्त्रण न होने और चारो ओर रँगरलियो के सामान होने आदि के कारण कई बार तो वे जान-बूझ कर इन प्रलोभनो मे फँस गई, उनके खिलाफ सबसे बडा सबूत है। रही अज्ञानता, उपयुक्त बौद्धिक और नैतिक शिक्षा का न दिया जाना और अस्वाभाविक वातावरण, सो इनके लिए विदेशी शासन को, जो अपने स्थिर स्वार्थों एव साम्राज्य की रक्षा के लिए लड रहा हो, सर्वांश मे दोषी नही ठहराया जा सकता। लगभग सभी देशो की स्त्रियो ने पिछले महा-युद्ध मे बहुमूल्य सहयोग दिया है। कल-कारखानो, दफ्तरो, अस्पतालो एव युद्ध-क्षेत्रो मे उन्होने जो-कुछ किया है, उससे युद्ध जीतने मे काफी मदद मिली है। पर किसी भी देश मे ऐसे गम्भीर आरोप सुनने मे नही आये।

ईमानदारी का तकाजा है कि भारतीय नारीत्व की इस लाछना के मूल मे हमारे देश की नारियो की जो अज्ञान-जनित बद्धमूल धारणाएँ, रूढिगत भ्रान्तियाँ और चरित्र तथा नैतिकता-सम्बन्धी मिथ्या भावनाएँ है, उन्हे हम स्वीकार करे, ठीक तरह से समझे और विश्लेषण के बाद उन्हे दूर करने की चेष्टा करे। जो मिथ्याभिमानी अपनी सभ्यता, सस्कृति और नैतिकता के अनुचित मोह मे पड कर भारतीय नारीत्व को विश्व-नारीत्व से अलग, विशिष्ट एव ऊँचा साबित करने की चेष्टा करते है, वे नारीत्व के सबसे बडे और निकृष्ट शत्रु है। यदि हम इस कूप-मण्डूकता से तनिक ऊपर उठ सके, तो हमे यह जानते देर न लगेगी कि अनेक बातो मे श्रेष्ठ एव उन्नत होते हुए भी भारतीय नारियाँ विश्व मे सबसे अधिक गुलाम, पिछडी हुई और अज्ञान-ग्रसित है। हम लोग जीवन, समाज, चरित्र आदि सब को आदर्शों की तुला पर ही तोलने के अभ्यासी है, जब कि

पूँजीवादी समाज-व्यवस्था मे कोरे आदर्श थोथे ढकोसलो और दुर्बल को ठगने के अस्त्रो से अधिक कोई अस्तित्व या महत्व नही रखते। सहज-स्वाभाविक और सामान्य जीवन की बात हम न कभी सोचते है और न उस पर अमल ही करते है। आदर्शो के नाम पर कुछ अव्यावहारिक स्वप्नो की गठरी माथे पर लादे फिरना और एक दिन उसी के साथ चिता पर सो जाना ही मानो हमारे जीवन का सबसे ऊँचा आदर्श है। आदर्शों की कृत्रिमता के फेर मे पड कर हम जीवन की सहज यथार्थता से मुँह मोड लेते है। इसका परिणाम यह होता है कि हमारा जीवन दुराचार-पूर्ण, पलायनवादी, नीरस, असुखकर और भार-रूप हो जाता है तथा जब कभी उसमे परिस्थितिवश आकस्मिक आघात लगते है, तो हमारे आदर्शो का महल सहसा ढह पडता है और हमे जीवन बेकार-सा दिखाई देने लगता है। अतएव सहज सामान्य जीवन के लिए पहली आवश्यकता यह है कि हम छूँछे आदर्शो की दुम से लटकने की आकाशी वृत्ति छोडे और जीवन को परिस्थितियो एव समय की आवश्यकताओ के अनुसार ढाले। न नर को राक्षस और नारी को देवी समझे, न उनके प्राकृतिक सम्बन्ध को धर्म और नैतिकता के मुलम्मे से अवाछनीय रूप से चमकीला बनाने की ही कोशिश करे।

पर इसका मतलब यह कदापि नही कि हम जीवन मे नैतिकता और सच्चरित्रता के आदर्श को सर्वथा कोई स्थान नही देना चाहते। उनके सही मूल्य और महत्व को किसी भी हालत मे अस्वीकार नही किया जा सकता, पर उनके थोथे स्वरूप एव अनावश्यक महत्व के विरोधी हम अवश्य है। यदि औसत आदमी को ईमानदारी से मेहनत कर सामान्य ज़िन्दगी बसर करने का मौका मिले, तो कभी भी वह जीवन को पतित एव गर्हित नही होने देगा। आदर्शो की उडान न भर कर भी वह दुराचारी नही बनेगा। बुराई और बदमाशी पर आदमी तभी उतारू होता है, जब जीवन की स्वाभाविक अभिव्यक्ति का मार्ग बन्द कर दिया जाता है।

स्वाभाविक जीवन की जहाँ गुजाइश नही, वही अस्वाभाविकता का विस्फोट होता है। इसे कितना ही आकस्मिक एव आघातपूर्ण क्यो न कहा और समझा जाय; पर इसके कारण और परिस्थितियाँ हम स्वय उपस्थित करते है। दूसरे शब्दो मे आज का समाज मनुष्य को सहज-स्वाभाविक जीवन से वचित कर दुराचरण अथवा नैतिक स्खलन के लिए ही विवश-सा करता है।

सबसे पहली बात, जिस पर हमे ध्यान देना है, वह है नर और नारी के सम्बन्धो की अस्वाभाविकता। युग बदले, युग-धर्म बदला, पर हम अभी वही सदियो पहले की लीक पीट रहे है। आज भी हमारे देश मे, अपवादो को छोडकर, जीवन-साथी चुनने की जिम्मेदारी माँ-बाप की ही है। जहाँ लडके-लडकी जवान और सुशिक्षित होते है, वहाँ भी यह जिम्मेदारी माँ-बाप अथवा सरक्षक की ही रहती है—बल्कि इसे जिम्मेदारी से अधिक वे अपना अधिकार समझते है, और अनेक बार तो लडके-लडकी की इच्छा और सरक्षक के इस अधिकार-पालन मे व्याघात उपस्थित होने पर जीत सरक्षक की ही होती है। कुछ लडके-लडकी सम्पत्ति के लोभ से और कुछ माता-पिता अथवा सरक्षक का जी न दुखाने या मन न तोडने के मोह से अपनी 'इच्छा' की उनके 'अधिकार' पर बलि दे देते है। कही-कही लडके तो सरक्षको के इस अधिकार को चुनौती देते अथवा उसके खिलाफ बगावत करते भी है, पर लडकियाँ तो अपेक्षाकृत बहुत ही कम। इस तरह विवाह के नाम पर होनेवाला उनका यह मूक बलिदान भारतीय जीवन का बहुत बडा कलक है।

जीवन का साथी स्वय चुनने के खिलाफ पुरातनपन्थियो की सबसे पेटेण्ट दलील यह है कि चूँकि प्रेम अन्धा होता है, जवानी विवेकहीन होती है, यह चुनाव अनुभवी माता-पिता अथवा सरक्षक द्वारा होना ही समीचीन है। यह दलील इतनी खोखली और लगो है कि आज इसकी व्यर्थता सिद्ध करने की जरूरत ही नही। दूसरी श्रेणी के लोगो का कहना है कि

चूँकि अधिकाश लडकियाँ पढी-लिखी नही, अत. वे जीवन-साथी के चुनाव मे अपनी स्वतन्त्र इच्छा से काम नही ले सकती। पर शिक्षित होने पर भी बहुधा वे अपने सरक्षको पर ही निर्भर करती है। इसका कारण यह है कि आजकल की अधिकाश लडकियाँ शिक्षा पाकर भी परम्परागत रूढियो से मुक्त नही हो पाती। (यही हाल लडको का भी है।) आर्थिक स्वावलम्बन मे तो अभी वे बहुत ही पिछडी हुई है। एक तो उनकी शिक्षा जैसी होनी चाहिए, नही होती, दूसरे जन-साधारण की भ्रान्त धारणाओ एव सामाजिक स्तर के बहुत गिरे हुए होने के कारण पुरुष ही की तरह वे आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र नही हो पाती। टेलीफोन, अस्पताल, शिक्षा-विभाग आदि को छोड़ कर बहुत कम क्षेत्रो मे उन्हे उपयुक्त काम मिल सकता है। अपनी पश्चिमी बहनो की तरह दफ्तर के भीतर और बाहर के अनेक कामो के लिए अभी वे अपना कृतीत्व सिद्ध नही कर पाई है। यह कहना सर्वांश मे ठीक नही कि अवसर मिलने पर वे सब-कुछ कर सकती है, क्योकि अन्य देशो की नारियो की अपेक्षा भारतीय नारी अभी आचरण और नैतिकता के अनुचित महत्व और पुरुषके साथ खुलकर बात-चीत करने एव घुल-मिल सकने की झिझक से मुक्त नही हो सकी है। पढ-लिख कर वह घर से बाहर ज़रूर आई है, पर बाहर की आज़ादी जैसे उसे एकदम सकटापन्न, दुरूह एव महँगी-सी जान पड रही है।

यदि केवल अवसर मिलने का ही प्रश्न है, तो पिछले महायुद्ध ने अन्य देशो की भाँति भारतीय महिलाओ को भी काफी बडा अवसर दिया। देश की राजनीतिक गुलामी के कारण जन-साधारण की भावना युद्ध मे विदेशी शासको की मदद न करने की ओर ही अधिक थी, अत जितनी शिक्षित स्त्रियाँ युद्ध-कार्यों मे भाग लेने को आगे आ सकती थी, नही आईं। जो आई, वे गरीब या निम्न मध्यम-श्रेणी की थी। सामान्यतया ये शिक्षित ही थी। पर इस सब के बावजूद इनमे से महिला-सहायक-दल मे भर्त्ती हुई बहनो के साथ जो-कुछ-हुआ, उसे क्या कहा जाय? आर्थिक

स्वावलम्बन तो इन्हे मिला, पर अज्ञान, उच्चाकाक्षा, अस्वाभाविक वातावरण, कठिनाइयो और प्रलोभनो के कारण ये अपने चरित्र की रक्षा नही कर पाई । क्यो ? जिन्हे यह नही मालूम कि वे क्या और क्यो पढ रही है, स्कूल और कालेज जाने-लेआने के लिए जिन्हे एक सरक्षक की जरूरत पडती रही है, ट्राम, बस और दफ्तरो मे जो अकेली चलने मे झिझकती है, अजनबी पुरुषो से खुल कर बात करने मे जो शरमाती है और सब-कुछ पढ कर भी नर तथा नारी के सम्बन्धो के बारो मे जिनका ज्ञान न-कुछ, अधूरा या भ्रान्तिपूर्ण ही रहता है, वे भला अकेली अपने पॉवो पर कैसे खड़ी हो सकती है ? यूरोप और अमरीका की न-जाने कितनी स्त्रियाँ आज दूर देशो मे अकेली रह कर बडे-बडे काम और जीविकोपार्जन कर रही है । पर कितनी भारतीय स्त्रियॉ आज, विदेशो को जाने दीजिए, अपने ही देश मे अकेली रह कर सुख-शान्ति से जीवन-यापन कर पाती है ?

इसमे कोई सन्देह नही कि भारतीय नारियो मे (पर सिर्फ शहरो मे ही) शिक्षा का काफी प्रचार हुआ है और आर्थिक स्वावलम्बन की ओर भी उनकी प्रवृत्ति हुई है । आज उनकी स्वतन्त्रता, समानता, शिक्षा एव अधिकारो के दावे भी किए जा रहे है । जाग्रति और लोकतन्त्र के इस युग मे इनका स्वागत और समर्थन ही किया जाना चाहिए । पर स्वतन्त्रता और अधिकार मॉगने से नही मिला करते, वे प्राप्त किए जाते है । उनके उपयोग और उन्हे कायम रखने के लिए नारी मे क्षमता होनी चाहिए । भारतीय महिला-सहायक-दल की सदस्याओ—सब नही—के साथ हुए तथाकथित दुर्व्यवहार से स्पष्ट है कि यह क्षमता अभी भारतीय नारी मे नही आई है । शिक्षा ने उसे नौकरी के लायक भले ही बना दिया हो, आत्म-विश्वास और आत्म-बल वह उसे नही दे सकी और न रूढिगत कुसस्कारो से उसे मुक्त ही कर पाई है । जो नारी पढ-लिखकर घर से बाहर जाती है, जीविकोपार्जन के सघर्ष मे पडती है, उसे अपनी देह और चरित्र की रक्षा और चारित्रिक नैतिकता को धार्मिक तथा घर के अब तक

के कैदखाने की धारणाओ से भिन्न करके देखना-समझना होगा। हर स्त्री यदि अपनी लज्जा-रक्षा के लिए द्रौपदी की तरह कृष्ण को ही पुकारेगी, तो उसे बुरी तरह निराश होना पडेगा। इसी प्रकार शारीरिक आवश्यकताओ के सम्बन्ध मे भी यदि वह सतर्क और सम्यक् रूप से अभिज्ञ न होगी, पर-पुरुष के स्पर्श-मात्र से ही यदि अपने चरित्र अथवा सतीत्व को भ्रष्ट मानने लगेगी, तो घर की कैद से अच्छा और सुरक्षित स्थान भला उसके लिए और कहाँ होगा ?

पर क्या आज की नारी विकास-मार्ग की कठिनाइयो से डर कर फिर उसी युगातीत गुलामी मे मुँह छिपा लेगी, जिसने उसे पूजनीया और वन्दनीया कहलवा कर भी पुरुप के पाँव की जूती ही बनाये रक्खा है ? नही, ऐसा कदापि नही होगा। आज उसे आगे बढने—स्वतन्त्र और स्वावलम्बी होने—के अवसरो से लाभ उठाना होगा। उसे आँचल के दूध और आँखो के पानी को आत्मबल एव आत्म-विश्वास मे बदलना होगा। चरित्र और नैतिकता-सम्बन्धी रूढिगत भ्रान्तियो से उसे अपने-आपको मुक्त करना होगा। अवाछनीय नरो की कुचेष्टाओ को विफल करने, उन्हे दण्डित करने-कराने का साहस तथा मनोनुकूल जीवन-साथी चुनने की क्षमता एव विवेक उसे अपने मे पैदा करना होगा। जीवन-क्षेत्र की फिसलती जमीन पर उसे मजबूती से अपने पाँव टिकाने होगे और मजबूत हाथो से बलपूर्वक अपने अधिकार, समता-स्वतन्त्रता, प्राप्त करने होगे। जब वह घर से बाहर आई है, तो उसे अपने-आपको बाहर की परिस्थितियो-आवश्यकताओ के अनुरूप भी बनाना होगा। आज का समाज शरीर नही, बुद्धि-बल से सचालित होता है। अत उसे अपने-आपको शरीर या बुद्धि मे पुरुष से दुर्बल समझने की भ्रान्ति त्याग कर बुद्धि से काम लेना होगा। विद्यालय, महाविद्यालय और विश्वविद्यालय से भी बढ कर उसके लिए सच्चा विद्यालय जीवन का क्षेत्र एव सघर्ष है। अपने बुद्धि-बल और कौशल से इसमे उचित शिक्षा प्राप्त करना और सफल होना

ही उसकी सफलता कही जायगी। इसी सफलता द्वारा वह अपनी सारी अयोग्यताओं, कमियों, बाधाओं और सामाजिक तथा अर्थनीतिक अनाचारों से मुक्त हो स्वच्छन्दता एवं स्वावलम्बन की साँस ले सकेगी।

जीवन-साथी का चुनाव

विवाह शायद सृष्टि के आदि-काल से ही मानव जीवन का सवसे विपम और जटिल प्रश्न रहा है। चाहने और प्रयत्न करने पर भी मनुष्य इसे उचित और सन्तोषजनक रूप मे हल नही कर सका है। आज भी यह उसके सामने उसी रूप मे उपस्थित है, जिस रूप मे यह उसके कई पीढियो पहले के पूर्वज के सामने था। पर इसका कारण मनुष्य की अक्षमता या अज्ञान नही, विवाह की गहनता है, जो उसके लिए कभी न हल होनेवाली पहेली-सी वनी हुई है। हाड-मास का पुतला यह 'मानव' न कभी अपनी कल्पनाओ को सत्य कर 'देवता' वन सका है और न ही वह धर्म तथा नीति की सीमाओ मे वाँघ कर भी विवाह को 'आदर्श' वना सका है। प्रयत्न तो आज भी वह इसी वात के लिए कर रहा है कि विवाह को सभ्यता और सस्कृति की ऊँची-से-ऊँची सीढी पर पहुँचाये और अपनी सुनहली कल्पनाओ के स्वर्ग को पाप और प्रमाद की इस पृथ्वी पर लाये।

विवाह एक सस्कार है, जिसका शास्त्रो मे विधान है। पर हमें शङ्का है कि सस्कार और विधान वन कर भी यह सही मानी मे अपनी उपयोगिता और आवश्यकता सिद्ध कर सका है? सभी विघान तो सफल नही होते? सस्कार हमने उसे ज़रूर वना लिया है, पर वह एक औपचारिकता से अधिक कुछ भी नही है। हमारे जीवन के सत्य अथवा वास्तविकता के साथ यह औपचारिकता कितनी घुल-मिल सकी है, यह तो हमे अनुभव की कसौटी पर ही कस कर देखना है। माता-पिता वर-वधू का निर्वाचन—अगर इसे 'निर्वाचन' सज्ञा दी जा सके—कर देते हैं और ब्राह्मण, मौलवी या पादरी उनका 'पाणि-ग्रहण' करा उनके 'सम्वन्ध' पर धर्म की मोहर भी लगा देता है। इसके वाद माता-पिता और विवाह

करानेवाले अपनी सामाजिक जिम्मेदारी से बरी हो जाते है। लेकिन वर और वधू का यह 'पाणि-ग्रहण' क्या वास्तव मे दो हृदयो को, शरीरो को, स्नेह-सूत्र मे बाँधनेवाली एक सुखद नैतिक ग्रन्थि होती है या सिर्फ़ कुत्ता-घसीटी और फजीहत ही, यह तो वर-वधू ही बतला सकते है। जब विवाह के बाद वर और वधू जीवन के नग्न सत्य का सामना करते है, एक-दूसरे के इतने निकट आते है जहाँ किसी भी तरह के मध्यस्थ की गुञ्जाइश नही रहती, तब वे अनुभव करते है कि अपने जीवन का साथी चुनने मे बडो के लिहाज़ और समाज के नियम-प्रतिबन्धो से काम लेकर उन्होने शायद अपने जीवन की सबसे बडी भूल की है। हमारा यह अभिप्राय नही कि विवाह के मामले मे बडो के अनुभव या सलाह से लाभ न उठाया जाय, पर यह हर हालत मे वैकल्पिक होना चाहिए, लाजिमी नही। अपने साथी के चुनाव का अन्तिम निर्णय तो उन्ही को करना चाहिए, जिन्हे जीवन-भर साथ रहना है।

लेकिन इस सम्बन्ध मे भी यह आपत्ति की जा सकती है कि पाश्चात्य देशो मे तो विवाह वर-वधू की इच्छा से ही होते है, फिर वे असफल क्यो होते है ? इस प्रकार की आपत्ति काफी माकूल है। आदमी जो कुछ निर्णय करता है, वह सदा-सर्वदा के लिए ठीक हो, यह जरूरी नही। रोज़ बदलनेवाली स्थिति तथा नई-नई घटनाओ और अनुभवो का हमारे जीवन पर अनिवार्यत असर होता है और उसीके अनुसार हमारे जीवन का दृष्टिकोण भी बदलता जाता है। आज हम जिसे ठीक समझते है, कल वह ठीक नही मालूम या कुछ कम ठीक होता है। वय के साथ ज्यो-ज्यो हमारा ज्ञान और अनुभव बढता जाता है, त्यो-त्यो हमारी बुद्धि और निर्णय-शक्ति भी सशोधित और परिमार्जित होती जाती है। परिवर्तन तो प्रकृति का अटल नियम है। विवाह की समस्या और उसके हल की भी हमें इसीके मुताबिक कतर-ब्यौत बैठानी पडती है। उचित और जरूरी यही है कि हम आज तक के अनुभवो से पूरा-पूरा लाभ उठाते हुए कल का

अगला कदम बढाये, ताकि पिछली गलतियो की पुनरावृत्ति होने का डर न रहे। जो लोग स्वय अपना जीवन-साथी चुनते है—जिसके चुनाव की गलती की जिम्मेदारी वे अपने सिवा किसी दूसरे पर नही डाल सकते—उन्हे किन-किन बातो का ख्याल रखना जरूरी है ?

विवाह मे जिन बातो का मुख्यतया ध्यान रक्खा जाना चाहिए, वे है पात्र और काल। पर पात्र से भी पहले काल विवाह मे विचारणीय पहलू है। किन्तु दुर्भाग्यवश हमारे देश मे तो जहाँ लड़की १२-१३ वर्ष की हुई और लडके की रेख फूटी नही कि उनकी शादी की बातचीत शुरू हो जाती है। अभिभावक कहने लगते है कि अब यह शादी के लायक हो गए है! अगर लडकी १५-१६ और लड़का १८-२० की उम्र पार कर जाय, तब तो अभिभावको को उनके विवाह की इतनी अधिक फ़िक्र हो जाती है कि कर्ज लेकर या बडी-से-बडी जोखिम उठा कर भी वे अच्छे या साधारण पात्र का विचार किये बिना उनकी शादी का 'पाप' काट देते है! वे अक्सर कहा करते है कि जवान होने पर अगर शादी नही की गई, तो लडके-लडकी के बिगडने का खतरा है। जवान लडके और लडकी को इतनी आशङ्का और भय की दृष्टि से देखा जाता है जैसे वे कोई भयङ्कर ज्वालामुखी है, जो न-मालूम कब फूट पडे! माता-पिता के अलावा सभी परिचित-परिजन और पास-पडोसवाले भी उठते-बैठते उनके विवाह का ही जिक्र करेगे। कभी-कभी तो दो व्यक्तियो के विवाह के लिए चिन्तित होनेवाले व्यक्तियो की सख्या का अन्दाज़ा लगाना भी कठिन हो जाता है। हर नौजवान से नाम, निवास-स्थान, शिक्षा और पेशा, जायदाद या वेतन वगैरह पूछने के बाद शादी का सवाल जरूर पूछा जाता है—वह विवाहित है या अविवाहित ? अगर विवाहित है तो कितने बाल-बच्चे है, और अगर अविवाहित है, तो क्यो ? अब तक शादी क्यो नही हुई ?

यह समझना काफी मुश्किल है कि हम लोगो ने आखिर विवाह को

इस प्रकार हौआ क्यो बना रक्खा है ? माता-पिता और पडोसियो को लडके-लडकियो के जवान होते ही उनके 'बिगड जाने' की आशङ्का क्यो होने लगती है ? अधिकाश लोगो पर विवाह का भूत इस बुरी तरह क्यो सवार है ? इन प्रश्नो पर अगर हम जरा बारीकी से विचार करे, तो हमे इनकी तह मे एक मनोवैज्ञानिक सत्य छिपा मिलेगा। यह सत्य हमारी कमजोरियो और खामियो का एक नग्न-चित्र है, जो निस्सन्देह अत्यधिक काला है। जिस नवयुवक या नवयुवती के सामने इच्छा या अनिच्छापूर्वक विवाह या बिगड जानेकी आशङ्का, बस यही दो विकल्प हो, उसे अपना भविष्य बनाने मे किन-किन कठिनाइयो का सामना करना पडता है, यह कोई भुक्त-भोगी ही बता सकता है। ज्योही वह अपने-आपको या दुनिया को समझने लायक हुआ, उसके सामने विवाह का एक ऐसा धुआँधार तूफान उठ खडा होता है कि वह उसके भीतर से आशा या प्रकाश की कोई क्षीण-रेखा भी नही देख सकता। उसे ऐसा मालूम होता है मानो वह जीवन-भर इस तूफान से लडेगा और लड़ता-लडता ही अपनी विफलता की थाती दूसरो के लिए छोड कर एक दिन शिथिल होकर सदा के लिए गिर पडेगा। यही उसके आशा और आकाक्षामय जीवन की और उसके सुनहले सपनो की दुखद इति होगी।

विवाह नर और नारी के जीवन का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सस्कार एव व्यापार है। हम यहाँ विवाह को उसी रूप और अर्थ मे मान कर चलते है, जिसमे कि वह आमतौर पर आजकल समझा जाता है। विवाह की रस्म पूरी की जाने से पहले उसकी आवश्यकता, अनिवार्यता और अहमियत को जतलाने के लिए हमारे घर, पडोस और समाज मे जो वातावरण तैयार कर दिया जाता है, अधिकाश लडके-लडकियो को उसीकी रोशनी मे अपना मार्ग तय करना पडता है। उससे ऊपर उठ कर या उसकी सीमाओ से परे कुछ देखने या करने की क्षमता और साहस बहुत कम लोगो मे पाया जाता है। इसीलिए विवाहेच्छुको को विवाह का

काल लोक-लज्जा और शायद अपनी निजी कमजोरियो को देख कर ही निश्चित करना पडता है। दूसरे शब्दो मे जवान होते ही लडके-लडकियों का विवाह कर दिया जाता है या उन्हे विवाह कर लेना पडता है। विवाह केवल काम-वासना की तृप्ति ही तो नही है। वह कुछ और भी है, जिसे शायद शब्दो मे हम ठीक-ठीक न बतला सके। सेक्स-सम्बन्ध या काम-वासना की तृप्ति तो विवाह के बिना भी हो सकती है—और शायद सभी कालो मे होती भी रही है—लेकिन जीवन के सच्चे साथी की प्रीति और प्रेरणा द्वारा जिस जीवन-इकाई का निर्माण होता है, वह तो अच्छे विवाह के बिना सम्भव नही। केवल कानूनी औपचारिकता और धार्मिक रस्म ही तो विवाह नही है।

आज हमारे देश के विभिन्न वर्गों और जातियो मे जो विवाह होते है, वे निश्चित रूप से 'ठीक समय' पर नही होते। यही कारण है कि अधिकाश विवाह एकदम असफल रहते है। आजकल हमारे यहाँ विवाह का 'ठीक समय' जवानी का आरम्भ समझा जाता है। शायद यह समझ या धारणा हमे कई पीढियो से विरासत मे मिली है। युवावस्था मे स्वभावतया काम का वेग प्रवल और दुर्दमनीय होता है। इसलिए इस अवस्था मे होनेवाले विवाहो का उद्देश्य काम-वासना की तृप्ति प्रधान और सस्कार या जीवन-साथी की भावना गौण हो जाती है। ऐसे विवाहो का आकर्षण जितना भी हो, उनका महत्त्व एव सार्थकता कम है। इनमे अपने जीवन का साथी उसीको चुनने का प्रत्यक्ष या परोक्ष झुकाव रहता है, जो अधिक-से-अधिक सुन्दर और सुडौल हो, और 'कामदेव' की प्रसन्नता एव सन्तुष्टि के लिए अधिक-से-अधिक योग दे सके। काम एक ऐसा मद है, जो शान्त होने की वजाय अधिक भडकता है, जब तक उसकी आग मानव को शिथिल कङ्काल नही बना देती। वह ऐसे विवाह मे स्वर्ग का सुख देखता है और अपने साथी को 'प्रेम' से ओत-प्रोत कर देता है। जब तक शारीरिक सम्पर्क से पैदा होने वाला यह आकर्षण और प्रेम रहता है, विवाह उसके

लिए पश्चात्ताप का कारण नही वनता, पर इसके कम होते ही वह 'विवाह' को झझट या जजाल समझने लगता है। यद्यपि समाज और कानून का डर उसे यावज्जीवन इस जजाल से पिड नही छुडाने देता, पर वास्तव मे वह जीवन का सच्चा सुख और सन्तोप खो बैठता है। शारीरिक सम्पर्क की यह प्रतिक्रिया इतनी जबरदस्त होती है कि वह सिर्फ विवाह या वैवाहिक जीवन से विकर्षण ही पैदा नही करती, बल्कि घर, पडोस और सुतराम् ससार से भी एक तरह का गहरा विराग और विकण्ठा-सी पैदा कर देती है। विवाह के गलत तरीके की इस भोडी विफलता पर पर्दा डालने अथवा इसे जीवन की विजय और सफलता की सीढी बनाने के लिए हमने अपनी अहमन्यता के द्वारा वानप्रस्थ तथा सन्यास आश्रमो की सृष्टि कर ली है! यह मनुष्य का दूसरो को धोखा देने के बाद अपने-आपको धोखा देने का एक कलुष प्रयत्न-मात्र है। जिस स्त्री को वह अग्नि की साक्षी देकर 'अपनाता' है और यावज्जीवन साथ रखने की 'प्रतिज्ञा' करता है, बाद मे उसीको छोड कर जङ्गल मे जाकर तपस्या करना ही उसका 'पवित्र कर्त्तव्य' और 'धर्म' हो जाता है! अगर हम इन सब बातो पर बारीकी से विचार करे तो हमे पता चलेगा कि इनकी तह मे विकृत काम का विकर्षण और प्रतिक्रिया के सिवा और कुछ भी नही है। इसमे विवाह का इतना दोष नही, जितना काल और पात्र के चुनाव की अनुपयुक्तता का है।

प्रश्न उठता है कि विवाह की ठीक वय क्या है? अगर वह जवानी के उष काल मे न किया जाय, तो क्या जवानी के ढल जाने पर किया जाय? और क्या इस प्रकार किया गया विवाह वास्तव मे 'विवाह' की आवश्यकता और उद्देश्य की पूर्ति कर सकेगा? नीति और धर्म की तराजू पर इन बातो को नही तोला जा सकता। हमे तो इनको अनुभव और उपयोगिता की कसौटी पर कस कर देखना है। ऐसा करने की जरूरत इसलिए भी है कि लोहे की लकीर की तरह विवाह की वय की कोई मर्यादा निश्चित नही की जा सकती। हर स्थिति, स्वभाव और स्वास्थ्य वाले आदमी

के लिए इसका विभिन्न होना स्वाभाविक है। हमे तो ध्यान केवल इस बात का रखना है कि विवाह की वय या काल निश्चित करते समय क्या आधार होना चाहिए ? इस सम्बन्ध मे हम फ्रास के सुप्रसिद्ध समाजवादी लेखक और राजनीतिज्ञ मौ० ल्यूँ ब्लुम के अनुभव का जिक्र करने का लोभ सवरण नही कर सकते। मौ० ब्लुम एक यथार्थवादी है और समाजोपयोगिता के अनुभव के आधार पर ही जीवित रहने का मार्ग निश्चित करने के पक्षपाती है। विवाह की समस्या का आपने कई वर्षो तक बडी बारीकी से अध्ययन किया और अपने अनुभवो के निचोड को 'Marriage' नाम की एक पुस्तक के रूप मे लोगो के लाभार्थ पेश किया है। इस पुस्तक मे अधिकाशत वैयक्तिक सम्पर्क के उदाहरण दिये गये है और फिर उनके स्वाभाविक परिणाम दिखाये गये हैं। स्थानाभाव के कारण यहाँ हम केवल उन उदाहरणो के निष्कर्ष की ही चर्चा करेगे। सबसे उल्लेखनीय बात आपने यह बतलाई है कि पुरुष स्वभाव से ही बहु-स्त्री-गामी (Polygamous) है। यौवन के उष काल मे वास्तविक अर्थो मे—मनसा, वाचा और कर्मणा—उसका एक स्त्री के प्रति सच्चा वफादार होना सम्भव नही। हाँ, अपवादो की गुन्जाइश इसमे जरूर है, लेकिन वह भी बहुत कम, क्योकि आमतौर से पुरुष एक साधारण जीव के ही स्वभाव का है। पुरुष का यह स्वभाव फ्रास मे ही हो, यह बात नही। कमोबेश रूप मे यह बात दुनिया-भर के पुरुषो के सम्बन्ध मे सत्य है। सभी देशो और सभी कालो मे नर और नारी के सामाजिक सम्बन्ध अधिकतर इसी स्वभाव-प्रेरणा से बनते है। वहाँ किसी नवयुवती का घर के बाहर के नौजवान से मिलना अनैतिक या अवाञ्छनीय नही समझा जाता। विवाह से पहले वहाँ अधिकाश पुरुषो के कई-कई 'प्रेम-सम्बन्ध' होते और टूट जाते है। पर इसका यह मतलब नही कि पुरुष का यह स्वभाव आजीवन उसे स्त्रियो का पीछा करने को ही प्रेरित करता है। युवावस्था के प्रारम्भिक काल मे, जब उसकी शारीरिक शक्ति चरम सीमा को पहुँची हुई

होती है, वह अपनी वासना को पूरा करने के लिए बुद्धि और धन का अधिकाधिक उपयोग करता है। पर कुछ ही समय बाद उसकी यह भूख कम हो जाती है और शारीरिक शक्ति के अपेक्षाकृत कम हो जाने से स्वभावतया वह शिथिल हो जाता है। पर शारीरिक सम्पर्क की भावना कम ज़रूर हो जाती है, पर एकदम कभी मरती नही। इस समय पुरुष के हृदय मे एक नई भावना उठती है। यह है शारीरिक सम्पर्क के लिए रस-लोलुप भ्रमर का जीवन छोड़कर किसी एक सच्चे जीवन-साथी के साथ सुख और शान्ति से सात्विक जीवन विताने की। यही भावना उसे सच्चा सद्-गृहस्थ वनाती है और ऐसा कर वह समाज की एक उपयोगी सुशिक्षित और अनुभवी इकाई के रूप मे जीवन व्यतीत करता है। यौवन के इस ज्वार के ढलने मे ५, १० या १५ वर्ष भी लग सकते है। इतने समय का अनुभव पुरुष को विवाह के असली महत्व और आवश्यकता का कायल कर देता है और वह केवल एक साथी के साथ रहने की आकाक्षा करने लगता है अर्थात् इस अवस्था मे वह एक पत्नी-व्रत वाला हो जाता है। फ्रास मे पुरुष की यह मनोदशा ३० से ५० वर्ष की अवस्था के बीच मे रहती है। मौ० ब्लुम ने इसी अवस्था के बाद का समय विवाह के लिए सर्वोत्तम बतलाया है।

उपर्युक्त उद्धरण को पढ कर शायद बहुत से पाठक-पाठिकाएँ लेखक को खब्ती और स्वप्नदृष्टा समझे। उन्हे यह आशका हो सकती है कि फ्रास का अनुकरण कर हम दुराचार और अराजकता फैलायेगे, जो हमारे मौरूसी सदाचार की सीमाएँ छिन्न-भिन्न कर देगी। पर क्या हमारा सदाचार यही है कि पर्दे के पीछे भाई का वहन तक से और श्वसुर का पुत्रवधू तक से अनुचित सम्वन्ध हो, अनेक घर दुराचार के अड्डे बने रहे, तीर्थ-स्थानो और मन्दिरो मे सधवा और विधवा कुल-वधुओ की असमत का व्यापार होता रहे? जिस उम्र मे हमारे यहाँ विवाह होते है, वह विवाह के लिए नही, वल्कि सिर्फ विवाह की तैयारी या जमीन तैयार

करने के लिए उपयुक्त है। विवाह का ठीक समय तो यौवन का ज्वार—काम का वेग—ढल जाने के वाद ही है। इस समय वे अधिक गम्भीर समझदार और अनुभवी हो जाते हैं। हमारे यहाँ यह अवस्था ३० और ४० के बीच मे समझी जानी चाहिए। बहुतो को विवाह की यह अवस्था व्यावहारिक दृष्टि से शायद ठीक न जान पडे, क्योकि एक तो हमारा देश फ्रास की अपेक्षा अधिक गरम है, दूसरे वहाँ की तरह नवयुवको और नवयुवतियो मे स्वतन्त्र प्रेम-सम्बन्ध स्थापित होने की यहाँ कतई गुञ्जाइश नही। ऐसी दशा मे ३०-४० वर्ष की अवस्था तक नवयुवको और नवयुवतियो का "अखण्ड ब्रह्मचारी" रहना सम्भव नही। यह कठिनाई वास्तव मे इतनी बडी है, जिसे आसानी से दूर नही किया जा सकता। इसके लिए हमे सदाचार के थोथे आदर्श और मिथ्या पवित्रता की भावना पर विजय पानी होगी। सेक्स के समुचित ज्ञान और उसके प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण की हमे नितान्त आवश्यकता है। हमारे यहाँ तो सेक्स-ज्ञान और अपने से विरोधी लिङ्ग के व्यक्ति को समझने और उसके साथ रहने का 'उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य' विवाह के वाद ही शुरू होता है। इससे पहले उसका ज़िक्र करना भी बेशर्मी और पाप समझा जाता है। हमारी सस्कृति मे मनुष्य या तो 'देवता' है, या फिर एकदम 'राक्षस'। इसके बीच की कोई स्थिति—जिसमे मनुष्य न देवता हो और न राक्षस, वल्कि एक साधारण कोटि का जीव हो—तो जैसे है ही नही। यही कारण है कि विवाह से पहले हमे सदाचार और ब्रह्मचर्य का जामा पहन कर कृत्रिम 'देवता' वनकर रहना पडता है। इसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया यह होती है कि विवाह के बाद पुरुष निरा पशु या 'राक्षस' वन जाता है और नारी उसका नि सहाय वाहन। अपने घर मे वह जी खोल कर वलात्कार और वाहर दुराचार करता है। पर इसे बुरा नही समझा जाता, क्योकि इसका करने वाला समाज के वर्तमान विधान के खिलाफ कोई आवाज नही उठाता।

ऊपर हमने विवाह की वय के बारे मे जो-कुछ लिखा है, वह केवल पुरुष को ही ध्यान मे रख कर। स्त्री पर वह लागू नही हो सकता। इस-लिए नही कि हम स्त्री और पुरुष मे जान-बूझ कर किसी तरह का भेद करना चाहते है, बल्कि दोनो का शारीरिक विकास और प्रकृति ही इतनी भिन्न है कि समय के एक ही गज से उन्हे नही नापा जा सकता। पुरुष मे पाशविक बल की और नारी मे कोमलता एव सहज-बुद्धि की प्रधानता होती है। इसलिए नारी का जो मानसिक विकास १६-१८ वर्ष की उम्र मे हो लेता है, पुरुष का शायद २०-२२ तक भी नही हो पाता। इसी प्रकार शरीर की गठन और बनावट मे भी नारी पुरुष को काफी पीछे छोड जाती है। १६-१८ वर्ष की कई लडकियाँ अकसर पूरी औरत मालूम देती है, जब कि २०-२२ वर्ष का नौजवान लड़का-सा ही लगता है। उनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग का विकास पुरुष से इतना भिन्न होता है कि उन्हे यह भेद और इसका कारण स्वत' स्पष्ट मालूम होने लगता है। हमारे देश का रहन-सहन, जलवायु और कई प्रकार की धार्मिक एव सामाजिक मर्यादाओ और प्रतिवधो के कारण हमारे यहाँ की लडकियो का यह एहसास (Consciousness) इतना गहरा होता है कि यदि हम यह कहे कि वे वय से पूर्व ही 'नारी' बन जाती है—कुछ तो नारीत्व के एहसास से उनके मन और शरीर पर पडने वाले असर के कारण और कुछ बडी-बूढियो की शिक्षा और आशीर्वाद के कारण—तो शायद अत्युक्ति न होगी। दुर्भाग्यवश हमारे देश की माताओ का बहुत बडा भाग अशिक्षित है। उनका अनुभव पुरानी दकियानूसी परिपाटी और दन्त-कथाओ अथवा अपनी पूर्वजो से मिली हुई सीख का इस्तङ्गत रूप ही है, जिसे वे अपनी पारिवारिक विरासत के कारण घुट्टी की तरह लडकियो के गले उतार देती है। एक ओर उन्हे यह `सिर-पैर की शिक्षा दी जाती है और दूसरी ओर उनके सामने सीता तथा सावित्री का आदर्श रक्खा जाता है। भले ही उन्हे किसी भी लम्पट या मूर्ख नर-पशु के गले बाँध दिया जाय, पर

उनके सामने सीता या सावित्री बनने के आदर्श और 'पति-परमेश्वर' की सेवा करने के 'धर्म' के सिवा और कोई विकल्प नही रहता।

मध्य-श्रेणी के जिन परिवारो मे लडकियो को पढाने के लिए स्कूल भेजा जाता है, वहाँ अमूमन देखने मे आता है कि १२-१४ या इससे अधिक की उम्र होने पर लडकियो का स्कूल जाना बन्द करवा दिया जाता है। उनके घर से बाहर निकलने, खिडकियो से झाँकने, शृङ्गार-रस या रोमास की चीज़े पढने, अधिक बनाव-शृङ्गार करने और एकान्त मे बैठने-हँसने-बोलने आदि पर प्रतिबन्ध-सा लगा दिया जाता है। लडकी ने इस उम्र तक चाहे चौथी-पाँचवी कक्षा तक ही शिक्षा प्राप्त की हो, चाहे मिडिल या मैट्रिक पास किया हो, शिक्षा उसकी पूर्ण हुई समझी जाती है, और तब उसके विवाह की फिक्र होने लगती है। क्या इन माता-पिताओ ने कभी यह सोचने का कष्ट भी किया है कि उनकी लडकी के मन पर—जो पढने की उत्कट इच्छा रखते हुए भी पढाई से हटा ली गई है और विवाह का मतलब न समझने पर भी जिसके विवाह की बातचीत या सौदे होने लगे है—क्या बीतती होगी? माना कि माता-पिता के प्रति उसका आदर, आज्ञाकारिता और कहे जाने वाले समाज की मर्यादा उसके मुँह पर ताला लगा देते है, पर क्या यह शील-सकोच तथा लिहाज-मुलाहिज़ा उसे अपनी सारी इच्छाओ और महत्वाकाक्षाओ का खून कर अपने-आपको मन, वचन और कर्म से उस अपरिचित व्यक्ति को सौंप देने के लिए भी राजी कर लेता है, जिसे उसके सबसे बडे हितेच्छु समझे जाने वाले माँ-बाप ने उसके जीवन-साथी के रूप मे चुना है? न मालूम कितने युगो से इस सर्वथा अबोध तरुणी मानवता का विवाह की वेदी पर इस नृशस ढग से बलिदान होता आया है। आज भी यह अबाध गति से जारी है और पढ-लिख कर भी उसके विरुद्ध आज तक नारी ने कभी सामूहिक रूप से कोई प्रभावपूर्ण विरोध या आपत्ति नही की।

कौन नही जानता कि सती और सावित्री ने अपने विवाह के सम्बन्ध

मे अपने पिता के आदेशो की अवहेलना की थी ? आज भी जब-तब हम ऐसी लडकियो का विवरण पढ या सुन लेते है। लेकिन यह सख्या कितनी कम है ? करोडो लडकियो मे से अगर १०-२० या १००-५० ने यह 'विद्रोह' किया भी, तो इससे क्या ? हम तो यह चाहते है कि विवाह का निर्णय शत-प्रतिशत लडकियाँ (और लडके भी) स्वय करे। अगर माता-पिताओ को उन्होने इस चिन्ता से मुक्त कर दिया, तो शायद वे उनका और अपना जीवन अधिक सुखी और सन्तोषप्रद बना सके और लडकियो के मन तथा शरीर पर वह कुप्रभाव न पडे, जो माता-पिताओ की इस चिन्ता के परिणाम-स्वरूप पडता है। इससे होगा यह कि लडकियाँ होश सँभालते ही विवाह के चक्कर मे पडने के बजाय प्रकृत रूप से अपना विकास कर सकेगी और कब तथा किससे विवाह किया जाय, इसका निर्णय भी सोच-विचार कर खुद ही करेगी। लेकिन इससे लडकियो की जिम्मेदारी बहुत बढ जाती है। पहले तो हमारे समाज का सङ्गठन ही इतना दकियानूसी, अस्वास्थ्यकर और दोषपूर्ण है कि मौजूदा वातावरण मे लडके और लडकी के बीच मे खडी माता-पिता या सगे-सम्बन्धियो की ऊँची-मोटी दीवार का सामूहिक रूप से एकदम ढाया जाना असम्भव-सा लगता है। पर जो लडके और लडकियाँ ऐसा करने का साहस कर सके, उनकी जिम्मेदारी काफी बढ जाती है। उन्हे विवाह की वय और पात्र का चुनाव काफी सोच-समझ कर करना चाहिए, ताकि फिर पछताना न पडे और अपने विवाह के सुपरिणाम को वे दूसरो के सामने उदाहरण के तौर पर रख सके, जिससे कम साहस वालो को भी प्रेरणा मिले। चूँकि सब लडकियो का शारीरिक और मानसिक विकास एक-सा नही होता, इसलिए सब के लिए विवाह की कोई एक वय निश्चित नही की जा सकती। यह तो प्रत्येक के लिए पृथक्-पृथक् ही होगी। साधारणतया इसे २० से ३० तक निश्चित किया जा सकता है। ३० से अधिक इसे ३५ तक भी ले जाया जा सकता है, किन्तु २० से कम तो किसी भी दशा

मे ठीक नही। विवाह के कर्त्तव्यो और जिम्मेदारियो को निभाने के लिए शरीर और मन से कोई भी लडकी २० वर्ष से कम वय में शायद अच्छी तरह तैयार नही हो पाती। हमारी समझ मे तो वे न्यूनतम वय भी २२-२३ वर्ष रक्खे, तो और अधिक अच्छा हो।

वहुत से पाठक शायद लडकियो के विवाह की न्यूनतम और अधिकतम वय को अव्यावहारिक या वहुत अधिक कहेगे। उनके दिमाग मे विवाह की जो धारणा है, उसे देखते हुए उनका यह विचार शायद ठीक भी है। हमारे यहाँ विवाह काम-विकार के शमन का एक सस्ता साधन समझा जाता है। विवाह का विचार हमारे दिमाग मे पहले-पहल शायद काम-विकार से भी उत्पन्न होता है और उस अवस्था को पहुँचने से पहले ही, जब कि हम उसके उद्वेग को शायद रोक न सके, हमारे यहाँ विवाह हो चुकते है, ताकि लडके-लडकियो के 'विगडने' की सम्भावना न रहे। पर सच तो यह है कि विवाह को कानून और धर्म के शिकजे मे कस कर हम उसे 'कानूनी-व्यभिचार' से अधिक कुछ नही वना सके है। यह हमारी युगो की मानसिक गुलामी और अन्ध-विश्वास का परिणाम है। लडके-लडकियो के युवावस्था मे पॉव रखते ही उन्हे अथवा उनके अभिभावको को उनकी काम-विकार की शान्ति के साधन जुटाने की फिक्र होने लगती है। इसमे कोई सन्देह नही कि चूँकि मनुष्य मैथुनी सृष्टि का ही एक साधारण जीव है, उसमे इस प्रकार के विकार का उत्पन्न होना सर्वथा स्वाभाविक है। पर इसका प्रथम अकुर उत्पन्न होते ही सदा के लिए इसमे डूब जाना शरीर और मस्तिष्क दोनो के लिए हानिकर है। माना कि हमारे देश की जलवायु उष्ण है, जिसका हमारे मानसिक-विकारो और शारीरिक विकास के साथ गहरा सम्वन्ध है, पर इससे भी अधिक असर पड रहा है हमारे शरीर और मन पर, हमारी परम्परागत धारणाओ, विश्वासो और तथाकथित सास्कृतिक अन्धविश्वास का। मनुष्येतर अन्य जीवो के लिए निद्रा, आहार और मैथुन ही 'धर्म' वन गया है, पर मनुष्य-योनि की

श्रेष्ठता इसीमे है कि वह इन सबको करता हुआ भी इनमे आपादमस्तक लीन नही होता और इनसे ऊपर उठ कर मानवता के विकास और उन्नति के लिए कुछ और भी करता है। काम-विकार उसके लिए आनन्द और मनोरजन का सस्ता साधन न वन कर वैसा ही रहा है, जैसा कि भूख, प्यास, निद्रा आदि। काम के वेग मे अनियन्त्रित रूप से बह जाने से शरीर और मस्तिष्क को ऐसा घुन लग जाता है, जो हमे दुनिया मे कोई महान् कार्य करने के योग्य नही रखता। इसीलिए विवाह का युवावस्था के प्रारम्भ मे नही, बल्कि ढलाव के आस-पास होना जरूरी है, क्योकि तव तक शरीर और मन दोनो ही कुछ शिथिल और परिपक्व हो चुकते है, और हम अपने जीवन का उद्देश्य एव दिशा निर्धारित कर चुके होते है। तब काम का विकार भी कुछ शिथिल हो जाता है, और हमे दुनिया का कुछ अनुभव भी हो जाता है।

इस प्रकार वय निश्चित कर लेने के बाद, जीवन-साथी के शारीरिक विकास और गठन तथा मानसिक-स्थिति का विचार करना आवश्यक है। वैवाहिक जीवन की सफलता या विफलता का यह एक वहुत वडा आधार है। यदि कोई स्त्री ३० वर्ष की होने पर भी २० से अधिक की न दीखती हो या उसके शरीर का विकास २० वर्ष की स्त्री से अधिक न हुआ हो, तो उसका २०-२२ साल के उस पुरुष से विवाह करना बुरा नही, जो कि भरा-पूरा जवान हो। अर्थात् साथी के चुनाव का शारीरिक पहलू वर्षों की गिनती से नही, वल्कि शरीर के विकास से ही मापा जाना चाहिए। आयु की विषमता व्यावहारिक जीवन मे आकर खो-सी जाती है, लेकिन शरीर की विषमता अधिक ऊपर उठ आती है। कभी-कभी तो उस विषमता की प्रतिक्रिया वैवाहिक जीवन के सारे सुखो और सन्तोष पर पानी फेर देती है। अनमेल विवाहो से होनेवाले दुष्परिणाम इतने व्यापक और सर्व-विदित है कि उनका उदाहरण देने की यहाँ विशेष आवश्यकता नही। लेकिन जीवन-साथी के चुनाव मे शारीरिक पहलू से भी कही

अधिक महत्वपूर्ण है मानसिक पहलू । अकसर विवाहो मे लडकियो का सौन्दर्य और शिक्षा, और लडको का घर और स्वास्थ्य भर देखा जाता है । विवाह के पहले आकर्षण के रूप मे इनका महत्व चाहे जितना हो, किन्तु व्यावहारिक जीवन मे इनसे भी अधिक जरूरी है विचारो का साम्य, उद्देश्य की एकता और मानसिक धरातल की समता । कवि के गले फूहड, भावुक के गले कर्कशा, स्नेह-वत्सला के गले लम्पट और कुशाग्र-बुद्धि स्त्री के गले मूढ पुरुष का मढा जाना कितना दुखद, दु सह और दुराग्रहपूर्ण है, यह कोई भुक्तभोगी ही बता सकता है । विचार न मिलने के कारण कलह, आत्म-हत्या, अनाचार और नाना प्रकार की दुर्घटनाओ की बात हम जब-तब सुनते है । पर क्या कभी एक क्षण का भी हमने यह विचार किया है कि इस प्रकार के विवाह मानवता का कितना बडा अहित कर रहे है ?

पात्र के चुनाव मे सबसे अधिक खतरनाक और फिसली जमीन है, शारीरिक आकर्षण या बाह्य-सौन्दर्य जो हमारी विवेक-बुद्धि पर अज्ञान एव जनून का पर्दा डाल देता है और जिसके दलदल मे फँस कर हम अपने जीवन-साथी को चुनने की आवश्यक बातो को उस वक्त नजर-अन्दाज कर जाते है । यही नही, उस वक्त तो हमारा दिमाग कुछ ऐसा खो-सा जाता है कि हम अपने को आकर्षित करनेवाले को शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त करने के लिए अपनी जान तक जोखिम मे डालने और बडा-से-बडा पार्थिव त्याग करने को भी उद्यत हो जाते है । इसमे कोई सन्देह नही कि सौन्दर्य एक ऐसा मद है, जिससे कोई भी नेत्रवान प्रभावित हुए बिना नही रह सकता । जीवन-साथी के चुनाव मे बाह्य-सौन्दर्य को आवश्यक महत्व ही दिया जाना चाहिए, अत्यावश्यक या अनावश्यक नही । इसे अधिक महत्व देने का परिणाम कभी-कभी बडा घातक और निराशाजनक होता है । जहाँ केवल बाह्य-सौन्दर्य पर रीझ कर विवाह-सम्बन्ध किया जाता है, वहाँ उसके घटते या नष्ट होते ही शारीरिक आकर्षण का स्थान घृणा

और विकर्षण ले लेते है,और वैवाहिक जीवन के स्वप्नो का प्रासाद ताश के महल की तरह उसके एक ही झोके मे ढह पडता है। सौन्दर्य का जीवन-सहचर के चुनाव मे अपना एक खास स्थान और महत्व है, जिसकी सामान्यतया उपेक्षा करना अपेक्षित नही। किन्तु उसे एकमात्र सौन्दर्य की कसौटी पर कसना भी तो ठीक नही। 'सौन्दर्य एक आवश्यक और आकर्षक गुण अथवा विशेषता होने पर भी सब कुछ नही है। वैवाहिक जीवन के घेरे को बाह्य-सौन्दर्य भले ही प्रकाशमान कर दे, किन्तु जीवन के विशाल प्राङ्गण को, विश्व की सुदूर प्राचीरो से घिरे हुए जीवन-सग्राम के क्षेत्र को केवल शारीरिक सौन्दर्य ही प्रकाशमान नही कर सकता। यह काम आत्मा का सौन्दर्य ही कर सकता है, जिसका चमडे की सुन्दर खलीती मे होना न आवश्यक है और न अनिवार्य ही। केवल 'आँखे सेकने' वाले भ्रमर-वृत्ति के लोग सदा जीवन के सच्चे सुख और सौन्दर्य के शव पर ही खडे-खडे किसी दिन काल-कवलित हो जाते है। फिर सौन्दर्य किसी एक की बपौती तो है नही कि जिसे हम पसन्द करे, सदा उसीके पल्ले बँधा रहे। आज जिस सौन्दर्य से हम आकृष्ट होते है, कल उससे उच्चतर सौन्दर्य से क्या हम आकृष्ट न होगे? और परसो उससे भी उच्चतम से? इस तरह का मनचलापन हमे सन्मार्ग पर कभी नही चलने दे सकता। भँवरो की तरह फूल-फूल का रस लेते फिरने की लम्पटता किसी भी व्यक्ति, देश और समाज को सच्चा सुख, शान्ति और सन्तोष नही दे सकती।

शरीर और मन के सम्यक् विकास के अलावा गृह-कार्यो की दक्षता और जीवन मे आवश्यक व्यावहारिकता का होना भी कम जरूरी नही है। पर यह एक ऐसी मोटी बात है, जिसको साधारणतया सभी लोग समझते है। वैवाहिक जीवन मे शायद इन सबसे आवश्यक बात है दो साथियो का एक-दूसरे को—उसके विकारो, कमजोरियो, गुणो, प्रवृत्तियो, रुचि, खूबियो और खामियो को ठीक-ठीक समझना। शारीरिक विकास

के साथ जिस प्रकार सौन्दर्य का आवश्यक सम्बन्ध है, उसी प्रकार मानसिक विकास, शिक्षा और गृह-कार्यो की दक्षता के साथ एक-दूसरे को भली भाँति समझने का भी बडा गहरा सम्बन्ध है। दो साथियो मे सौन्दर्य, स्वास्थ्य, सम्पत्ति, शिक्षा, कार्य-दक्षता और इतर गुणो के होने पर भी यदि एक-दूसरे को ठीक-ठीक समझने की विवेक-बुद्धि नही है, तो वे विवाह के सम्बन्ध मे आबद्ध होकर भी उसके वास्तविक सुख और शान्ति से वचित ही रहेगे। हम तो यहाँ तक कहेगे कि वैवाहिक जीवन का मुख्य आधार ही यही है। सौन्दर्य, शिक्षा, सम्पत्ति या कार्य-दक्षता की कमी से थोडी-बहुत असुविधा या परेशानी होने पर भी काम चल ही सकता है, लेकिन पारस्परिक समझ की इस कमी से वैवाहिक जीवन भार-रूप हो जाता है। वैवाहिक जीवन अनेक भ्रान्तियो, गलतफहमियो, तलाको, असामयिक मौतो, आत्म-हत्याओ, षड्यन्त्रो, दुराचारो आदि का मूल कारण अधिकाश मे इसकी कमी ही है। यह कमी केवल अशिक्षितो या अर्द्ध-शिक्षितो मे ही हो, ऐसी बात नही है। शिक्षित भी इसके कम शिकार नही है—बल्कि अशिक्षितो की अपेक्षा वे ही इसके ज्यादा शिकार है। इसका सम्बन्ध बहुत कुछ आदमी के मनोवैज्ञानिक विकास एव मनोवृत्ति से है। अकसर देखा गया है कि छोटी-छोटी और मामूली-सी बातो पर पति-पत्नी मे अन-बन हो जाती है, और कभी-कभी तो इन्ही का परिणाम विवाह-विच्छेद तक हो जाता है। यूरोप मे तो कई बार सिनेमा, सैर, घडी, कुत्ता, नौकर और पत्नी के कपडो की सिलाई तक पर विवाह-विच्छेद हो जाता है। अकसर पति-पत्नी की गलतफहमियो का कारण एक-दूसरे की प्रकृति और आदतो से ठीक-ठीक परिचित न होना और अविश्वास या सन्देह-वृत्ति भी होते है। शक्की तबियत के स्त्री-पुरुष कभी-कभी एक-दूसरे पर निराधार शक करके भी अपना जीवन कष्टमय बना लेते है।

जीवन-साथी चुनते समय रक्त और परिवार से सम्बन्ध रखनेवाली

वातो पर भी पूरा-पूरा ध्यान दिया जाना ज़रूरी है; जिन्हे आजकल के नई रोशनी के लोग विशेष महत्व नही देते। इससे हमारा तात्पर्य यह कदापि नही है कि उच्च जाति या वश वाले उच्च जाति या वश मे ही विवाह करे और निम्न जाति या वश के निम्न जाति और वश मे ही। वश की यह उच्चता या निम्नता तो स्वार्थी और शोषक-बुद्धि मानव की कुप्रवृत्ति का ही एक दुष्परिणाम है। वश से हमारा तात्पर्य रक्त-सम्बन्ध से है। समान जलवायु, सभ्यता एव सस्कृति मे पले हुए व्यक्तियो मे विवाह-सम्बन्ध अधिक उपयुक्त है। पर समान रक्त के व्यक्तियो मे इस सम्बन्ध का होना हानिकर है। अकसर स सम्बन्ध मे लोग मुसलमानो का उदाहरण दिया करते है, जिनमे कि चचेरे भाई-वहन मे विवाह जायज माना है। प्रोफेसर रगल्स गेट्स ने इस प्रकार के विवाहो को आपत्तिजनक नही वताया है। यूगेनिक-सोसाइटी आज भी इन्हे सही मानती है। रोम की प्रसिद्ध सौन्दर्य-सम्राज्ञी क्लियोपेट्रा ने अपने एक और बाद मे दूसरे चचेरे भाई से विवाह किया था। डॉ० पॉल पोपेनू (कैलीफोर्निया) ने मिस्र के १८वे राजवश के सस्थापक अहमज प्रथम का उदाहरण दिया है, जिसने अपनी बहन से विवाह किया था। इसके वाद इसकी ६-७ पुश्तो मे भाई-वहन ही विवाह करते रहे, किन्तु उनमे और उनकी सन्तति मे कोई खास खरावी नही देख पडी। पर दूसरी ओर डॉ० हाल्डेन ने इसका वड़ी ठोस दलीलो से खण्डन किया है। आप का कहना है कि एक ही रक्त के स्त्री-पुरुष मे विवाह-सम्बन्ध होने से न सिर्फ पूर्वजो के रोग ही उन्हे विरासत मे मिलते है, वल्कि नये-नये रोग भी पैदा हो जाते है और उनके तथा उनकी सन्तति के मानसिक और शारीरिक विकास पर घातक असर पडता है। हिटलर की मानसिक विकृति और असाधारणता का वहुत वडा कारण यही है। डॉ० एडकिन्सन ने समान रक्त के व्यक्तियो की ४०० सन्तानो की जाँच का यह परिणाम निकाला है कि उनमे अपने माता-पिता की शारीरिक और मानसिक विकृतियाँ न्यूनाधिक रूप मे

मौजूद है। दमा, कालाज्वर, तपेदिक, ववासीर, रक्त-विकार, मिर्गी आदि रोग अधिकाश व्यक्ति अपने पूर्वजो से ही लेते है।

जीवन-साथी के चुनाव मे परिवार का विचार भी आवश्यक है। हम लोग वचपन से जिस वातावरण और स्थिति मे रहते है, उसका हमारी रहन-सहन और आदतो पर गहरा असर पडता है। विवाह के वाद यदि हम अपनी और अपने साथी की आदतो और रहन-सहन के तौर-तरीको मे विशेष व्यवधान या विपर्यय पाते है, तो जरा अटपटा-सा और कभी-कभी नागवार भी गुजरने लगता है। पारिवारिक अनुकूलता जीवन-साहचर्य के लिए जरूरी है। घर और उसके वाहर का जीवन हमारे जीवन-व्यवहार पर काफी असर डालता है। वचपन से २०-३० वर्ष की उम्र तक जिस वातावरण और सङ्गति मे हम पलते, वडे होते और जीवन का व्यावहारिक पाठ पढते है, उससे एकदम विपरीत या भिन्न वातावरण मे अपने-आपको जमा लेना जरा कष्टसाध्य और मानसिक क्लेश का भी कारण हो जाता है। इसलिए विवाह से पूर्व इस सम्वन्ध मे भी काफी खोज-वीन कर लेना जरूरी है।

'क्या हम ज़हर खा लें ?'

भारतीय महिला-सहायक-दल की सदस्याओ के साथ जो कुछ हुआ, उसकी गुरुता एव गभीरता को कम न मानते हुए भी कहना पडेगा कि परिस्थिति-विशेष मे ऐसे स्खलन असभव नही। उन्हे हम किसी हद तक मजबूरन हुए अपवाद भी कह सकते है। पर गत वर्ष के उत्तरार्द्ध मे देश के विभिन्न भागो मे हुए साप्रदायिक उपद्रवो के दौरान मे नारियो के साथ जो कुछ हुआ है, वह तो शायद सभ्य-ससार के इतिहास मे असभ्यता और पाशविकता का एक नया अध्याय है। गत अगस्त मे कलकत्ते मे हुए नर-सहार और उसके बाद पूर्वी बगाल के नोआखाली तथा त्रिपुरा जिलो मे हुए उपद्रवो मे लडकियो और स्त्रियो को खास तौर पर मनमानी ज्यादतियो का निशाना बनाया गया। कलकत्ते के उपद्रव मे नारियो को नगा करके मारने-पीटने, बेइज्जत करने तथा उनके स्तन, नाक और अग-विशेप के काटे जाने के सवाद 'प्रत्यह', 'अमृत बाजार पत्रिका', 'लीडर' आदि मे छपे है। बहुत-सी विवाहित और अविवाहित स्त्रियो को गुण्डे जबरन घसीट ले गए, जिनका अभी तक भी कोई पता नही लग सका है। पूर्वी बगाल मे तो गुण्डे जान से मारने की अपेक्षा लडकियो और स्त्रियो को न सिर्फ भगा ही ले गए, न सिर्फ उनके साथ बलात्कार ही किया, बल्कि धर्म-परिवर्तन कराकर उनके साथ जबरदस्ती 'विवाह' (?) भी कर लिए! कितनो के साथ ऐसा हुआ और कितनी अभागिने अभी भी इस तरह का 'वैवाहिक जीवन' बिता रही है, इसका केवल अनुमान-भर लगाया जा सकता है।

यह सब कैसे हुआ, यहाँ इसका थोडा-सा उल्लेख कर देना शायद अप्रासगिक न होगा। पूर्वी बगाल मे हुए गुण्डेपन के जो विवरण कलकत्ते

के पत्रो मे निकले है और जो प्रेस-ऑर्डिनेंस के कारण छप नही सके है, उन सब का साराश भी यहाँ दे सकना सभव नही। यहाँ हम केवल कुछ चश्मदीद वक्तव्यो के उद्धरण ही देगे। गाधी जी की लन्दन की मेजबान कुमारी म्यूरियल लीस्टर ने नोआखाली का दौरा करने के बाद दिए गए अपने वक्तव्य मे कहा है—"हर शरणार्थी अपना एक-न-एक दुखद अनुभव सुनाता है। पर सबसे जघन्य थी नारियो की दुर्दशा। कइयो की आँखो के सामने उनके पतियो को मारा गया और जोर-जबरदस्ती धर्म-परिवर्तन कर किसी हत्यारे से विवाह करना पडा। इनकी आँखो मे मृत्यु की-सी शून्यता थी—निराशा भी नही, एकदम शून्यता। वे इस तरह सामने देख रही थी, मानो उनकी दृष्टि मे कोई चेतना या भावना ही न हो। उन्होने अपने आदमियो को बचाने की चेष्टा की, पर बेकार। जिन मुसलमान घरो मे ये औरते वधुएँ बना कर ले जाई गई है, गाँव मे सहायता-कार्य करने वाले व्यक्तियो के लिए वहाँ से उन्हे छुडा लाना मुश्किल हो रहा है। उन्हे चेतावनी दे दी गई है कि यदि वे अफसरो से यह नही कहेगी कि वे पहले की अपेक्षा अपने नए घरो मे ही रहना चाहती है, तो उनके समूचे परिवार को मौत के घाट उतार दिया जायगा। सहस्रो को अपने प्राणो की कीमत स्वरूप जबरदस्ती गो-मास खाना पडा और इस्लाम-धर्म स्वीकार करना पडा है।"

आचार्य कृपलानी ने भी अपने वक्तव्य मे कहा है—"कइयो के जबरदस्ती विवाह हुए है। अभी ऐसे विवाहो की सख्या निर्धारित करना सभव नही। नारी-अपहरण के मामले भी हुए है, पर समयाभाव के कारण मै उनकी सख्या निर्धारित नही कर सका। इसी प्रकार बलात्कार के मामलो की सख्या भी निर्धारित नही की जा सकी।"[1] श्रीमती सुचेता

---

[1] त्रिपुरा और नोआखाली जिलो में हुए अपराधो की पूरी रिपोर्ट तैयार करने के लिए बंगाल-सरकार ने दो भारतीय सिविल-सर्विस के

कृपलानी से, जिन्होने पूर्वी बगाल की पीडित बहनो की सेवा-सहायता के लिए बहुत-कुछ किया, कई स्त्रियो ने अपने साथ हुए अत्याचारो का हृदयद्रावक वर्णन किया। उन्होने बतलाया कि उनके सुहाग के चिह्न-स्वरूप पहनी हुई शख की चूडियॉ फोड डाली गई और उनकी मागो से सिन्दूर पोछ डाला गया। कई जगह तो उन्हे जमीन पर गिरा कर गुण्डो ने अपने पाँव के अँगूठे से उनकी मॉग का सिन्दूर मिटा डाला! गत २४ अक्तूबर को जब वे चॉदपुर पहुँची, तो अनेक अभागिनो ने उन्हे अपनी घायल कलाइयाँ और सिर दिखाए, जिनसे क्रमश उनके सुहाग-चिह्न—शख की चूडियॉ और सिन्दूर—नप्ट कर दिए गए थे। ज़ेवर आदि के लिए बडे भद्दे ढग से उनकी जामा-तलाशी ली गई और बहुत-सी लडकियो तथा युवतियो को गुण्डे अपने साथ भी ले गए। इनमे से कुछ वापस आ गई और कुछ अभी भी गायब है। लोगो ने बताया कि इस तरह उडाई हुई स्त्रियाँ वहाँ के दो मौतबिर लोगो के घर ले जाई गई!

आचार्य कृपलानी जब श्रीमती कृपलानी के साथ नोआखाली के पीडित क्षेत्रो का दौरा कर रहे थे, तो श्रीमती कृपलानी ने ऐसे जबरदस्ती किए गए विवाहो की ओर नोआखाली के अगरेज जिला-मजिस्ट्रेट मि० मैकर्नी का ध्यान खीचा। उन्होने कहा कि ऐसे विवाह हिन्दू-औरतो ने स्वेच्छापूर्वक किए है। इस पर एक विशिप्ट लडकी का मामला उन्हे

सदस्यों (एक अंगरेज़ और दूसरा हिन्दुस्तानी) को नियुक्त किया था। अंगरेज़ सिविलियन ने त्रिपुरा-ज़िले की रिपोर्ट के दौरान में कहा है कि अकेले चाँदपुर सब-डिवीजन में ३०० और दूसरे में ४०० स्त्रियों के साथ बलात्कार किया गया! ये सब अल्पसंख्यक जाति की थीं और इनकी उम्र १० से ५० वर्ष तक थी। हिन्दुस्तानी सिविलियन को गुण्डो ने जाँच ही नहीं करने दी और तीन बार उस पर आक्रमण किया! (देखिए 'अमृत बाजार पत्रिका', ८ नवम्बर का अग्रलेख।)

बताया गया। वहाँ पहुँच कर उन्होने एक नव-विवाहिता लडकी से पूछा, तो पहले तो उसने स्वेच्छापूर्वक विवाह करने की बात कही। पर जब लडकी को कहा गया कि सारी बात सच-सच कहे, उसके परिवार का कोई कुछ न बिगाड सकेगा, तब लडकी ने कहा कि उससे जबरदस्ती विवाह किया गया है। इस पर जिला-मजिस्ट्रेट ने उसका उद्धार किया। ('हिन्दुस्थान स्टैण्डर्ड', ३० अक्टूबर)

ये काण्ड एक-दो दिन हुए हो, ऐसी बात नही। पुलिस और फौज के पहुँच जाने पर भी ये जारी रहे। गत १३ नवबर के अपने वक्तव्य मे अखिल-भारतीय महिला-सम्मेलन की प्रमुख कार्यकर्त्री श्रीमती रेणुका राय ने कहा है—"जिन क्षेत्रो मे फौज पहुँच गई है और उसकी गश्त लगती है, पर जहाँ अभी तक उसका कोई कैम्प नही है, उसकी गश्त हटते ही लडकियाँ गायब हो जाती है। कई बार तो इस तरह गायब हुई लडकियाँ कुछ दिन बाद फौजी गश्तियो के आते ही फिर लौट आती है। बहुत बडी सख्या मे स्त्रियो के अपहरण और उनके साथ बलात्कार किए जाने के मामले शरणार्थी-केम्पो मे पहुँचे है। प्राप्त सबूत से जाहिर है कि इनमे से अधिकाश स्त्रियाँ निम्न और तफमीली जातियो की ही है, यद्यपि ब्राह्मण और अन्य सम्भ्रान्त परिवारो की लडकियो के साथ भी ऐसा ही किया गया है। ये लडकियाँ और स्त्रियाँ ११-१२ से लेकर ५० वर्ष तक की है।"

गत ११ नवम्बर को गाधीजी के दत्तपाडा पहुँचने पर आसपास के घरो से ३०० स्त्रियाँ एकत्र हो गई, जो बराबर रो रही थी। उन्होने गाधीजी को बताया कि गुण्डो ने उनकी माँगो का सिन्दूर और शख की चूडियाँ नष्ट कर उन्हे जबरन विधर्मी बना लिया। उनका रोना देख कर गाधीजी के साथ जो लोग थे, उनमे से कइयो की आँखो मे आँसू आ गए। गत २७ अक्टूबर के 'हरिजन सेवक' मे इसकी चर्चा करते हुए गाधीजी का यह वक्तव्य उद्धृत किया गया है—" उन औरतो का क्या,

जिन्हे भगा कर जबरन् मुसलमान बनाया जा रहा है ? किसी के बनाने से न कोई मुसलमान बनता है, न हिन्दू, न ईसाई। लेकिन हिन्दुस्तानी औरते अपने-आप को इतनी बेबस क्यो समझे ? क्या बहादुरी मर्दो का ही इजारा है ? औरतो के हाथ मे आम तौर पर तलवार नही रहती। झाँसी की रानी के हाथ मे तलवार थी, और तलवार के जौहर मे वह अपने जमाने के सब लोगो से आगे बढ गई थी। लेकिन सभी औरते झाँसी की रानी नही बन सकती। फिर भी उन्हे भगा कर ले जाने वालो को वे यह जरूर कह सकती है कि न तुम हमे मुसलमान बना सकते हो, न अपने घरो मे डाल सकते हो। मरने का इल्म तो सब जानते है। सीता एक दुबली-पतली और निरपराध स्त्री थी, लेकिन महाबली रावण भी उसका कुछ नही बिगाड सका। सीता की मिसाल को हम किस्से-कहानी की बात कह कर उडा न दे। मैंने मिस ओलिव डोक को देखा है। वह अकेली जगली हब्शियो के बीच रहती थी। किसी ने उनकी तरफ आँख तक उठाने की हिम्मत नही की। मै हिन्दुस्तान की औरतो मे ऐसी ही सात्विक हिम्मत देखना चाहता हूँ। आज पूरबी बगाल मे फौज औरतो को बचाने की कोशिश कर रही है। लेकिन जिन्हे भगा लिया गया है, या जो फौज या पुलिस की हिफाज़त के बावजूद भी भगाई जा सकती है, उनका क्या ? उन्हे अपनी हिफाजत खुद करनी होगी। उसका एक ही अचूक रास्ता है—मरने की कला सीखना। जिसे मरना ही है, वह अपनी जीभ काट कर या साँस रोक कर भी मर सकता है।" गाधीजी की इस बात को सुन कर डॉ० सुशीला नय्यर ने उनसे कहा कि जीभ काट कर या साँस रोक कर मरना मुमकिन नही। दूसरे दिन सुबह गाधीजी से मिलते वक्त डॉ० विधानचन्द्र राय ने डॉ० सुशीला नय्यर की बात की ताईद की। डॉक्टरी मत से तत्काल प्राण-त्याग के लिए तेज जहर ही एक इलाज हो सकता है। दूसरे दिन शाम की प्रार्थना-सभा मे इसका जिक्र करते हुये गाधीजी ने कहा—"अगर मरने का सीधा रास्ता ज़हर

ही हो, तो मे कहूँगा कि बेइज्जती कराने की बनिस्बत जहर खाकर मर जाना बेहतर है। मगर मैं योग जानने वालो से इस बारे मे दरयाफ्त करूँगा। मेरा खयाल है कि जहर के सिवा भी मरने का रास्ता होना चाहिये। हमने अपनी लडकियो को बेबसी की तालीम दी है। हमने उन्हें सिखाया है कि उनकी हिफाज़त अपने पति के साथ या चिता पर ही हो सकती है।"

इसी सिलसिले मे गत ३ नवम्बर के 'हरिजन सेवक' मे गाधीजी की यह सलाह छपी है—"हमारी औरते हुल्लड से बहुत जल्द डर जाती है। करीब-करीब सारी दुनिया मे औरतो का यही हाल है। मै चाहता हूँ कि हमारी औरतें बहादुर बने। मैंने बहनो से कहा है कि वे चाहे तो खजर रख सकती है। अगर उससे भी वे अपनी इज्जत न बचा सकें, तो जहर खा कर मर जायँ। कोई कैसा ही मर्द या औरत क्यो न हो, १०० या ५० जनो का सामना एक खजर से नही कर सकता। मगर जब हमारी बहनें इतनी बहादुर बन जायँगी कि जान तक देने को तैयार हो जायँ, तब वे किसी से नही डरेगी। उनकी रक्षा या हिफाजत भगवान् करेगा। अपनी रक्षा के दो रास्ते है—मारना और मरना, या बिना मारे मर जाना। मैं आप को दूसरा रास्ता बता सकता हूँ, पहला नही। आप जो चाहे, करे, लेकिन डरपोक न बने। डरपोकपन से बडा कोई पाप नही।"

गाधीजी की सलाह का जिक्र करते हुए गत १५ दिसम्बर के 'हरिजन-सेवक' मे श्री किशोरलाल मशरूवाला ने लिखा है—"जिस औरत मे अपनी हिफाजत करने की ताकत और तालीम नही है, लेकिन जिसे अपनी पवित्रता की बहुत ज्यादा फिकर है, और जिसके दिल मे जुल्म की दहशत पैदा हो गई है, उस औरत को आज, अभी क्या सलाह दी जाय ? क्या उसे यह कहा जाय कि अगर तुम्हारी इच्छा के खिलाफ तुम पर जबरदस्ती की जाय, तो तुम उससे दु खी न होना, बल्कि उसे चुपचाप सह लेना ? इसमे शक नही कि सतीत्व अच्छी चीज है, लेकिन उसके लिए अपनी जान

देने की जरूरत नही ? नही, उससे तो यही कहा जा सकता है कि अगर तुम मौत का डर छोड दोगी, तो तुम्हे उपाय सूझेगे। जब तक तुम्हे अपने आस-पास की हवा मे जुल्मो और ज्यादतियो के होने का अंदेशा मालूम हो, तब तक तुम खुदकुशी का भी कोई-न-कोई साधन अपने पास रख कर घूमो। अपने शील की रक्षा और मौत का डर, ये दोनो साथ-साथ नही चल सकते। इसलिए जिसे अपना शील या अपनी इज्जत बचानी हो, उसे मौत का डर पहले छोडना चाहिये। यह कोई कमजोरी की सीख नही, बल्कि कमजोर के लिये भी जो एक इलाज मुमकिन है, वही सुझाया गया है। इसका यह मतलब नही कि जो औरत अपनी इज्जत के लिये लड लेती है, या लडते-लडते मर जाती है, उसकी बनिस्बत खुदकुशी करने वाली औरत ज्यादा अच्छी है। बल्कि इसमे उस औरत की कदर जरूर की गई है, जो अपने शील को जान से ज्यादा प्यारा समझती है। और यह ठीक ही है।"

ऊपर के उद्धरणो से दो बाते स्पष्ट है पहली तो यह कि पूर्वी बगाल मे दुर्बल और नि सहाय नारी को जिन अधम, जघन्य और पैशाचिक अत्याचारो का शिकार बनाया गया, वह हमारे नैतिक पतन के नग्नतम रूप का परिचायक है। कुछ विगिष्ट अपवादो को छोड कर ससार के किसी भी सभ्य कहे जाने वाले देश मे ऐसा गर्हित और अमानुषिक बर्त्ताव स्त्रियो के साथ शायद ही कही हुआ या होता हो। यह कहना असत्य और कपट होगा कि इस तरह के काण्ड केवल उपद्रव के उत्तेजित वातावरण मे हुए, सामान्यतया ऐसा नही होता। उपद्रवो के रूप मे एक सामाजिक तूफान आया, जिसने समाज के गलित और सडे अगो पर पडे पर्दे को एक झटके के साथ उतार फेका और उसके असली रूप को सर्व-साधारण के सामने उघाड कर रख दिया। नारी के प्रति इस देश के औसत आदमियो का जो यथार्थ दृष्टिकोण है, उसका जो प्रकट तथा अप्रकट आचरण है, उसकी जो दमित इच्छाएँ व लालसाएँ है, उपद्रवो के वातावरण ने उसे

जी-भर खुल खेलने का मौका दिया। ऐसी जहनियत केवल तथाकथित गुण्डो की ही नही, पढे-लिखो की भी है, जिनका परोक्ष हाथ इन काण्डो के पीछे था। आये दिन हम देखते और सुनते है कि अमुक जवान स्त्री के साथ ऐसा हुआ, अमुक के साथ वैसा। पुरुष मानो भूखे भेडिये की तरह नारी-देह को हथियाने के लिए सब-कुछ भूल कर उस पर टूट पडता है। स्कूल-कालेजो की लडकियो, नर्सो, डॉक्टरनियो, टेलीफोन-ऑपरेटरो, अध्यापिकाओ आदि को भगाने और विगाडने के लिए आए दिन जैसे षड्यत्र होते है, उन्हे क्या कहा जाय ? धन, प्रभुता और पशु-वल के जोर से पुरुष मानो किसी भी सुन्दर स्त्री को सती-साध्वी का जीवन न विताने देने पर तुला हुआ है। शान्ति-काल मे वह पैसे, दवाव और षड्यन्त्रो से अपनी इस पैशाचिकता को सन्तुष्ट करने के यत्न करता है और भीड तथा अशान्ति के समय युद्ध, अग्निकाण्ड, शादी-गमी, मेलो, सभा-सम्मेलनो, मन्दिरो आदि की भीड तथा वाढ के समय—यह अवाध रूप से फट पडती है। पाठको को शायद विश्वास न हो, पर हमने अपनी आँखो से उन विवश स्त्रियो को भी देखा है, जिन्हे सहायता-केन्द्रो तक से अपनी असमत वचाने के लिए भाग निकलना पडा है ! अस्पतालो मे वीमार स्त्रियो तथा रेल, ट्राम, वस आदि मे सफर करने वाली अकेली स्त्रियो की छेड-छाड तो जैसे पुरुषो का रोज का विना पैसो का तमाशा वन गया है ! पुरुष की इस बीमारी का इलाज भी नारी को ही करना है।

दूसरी वात जो ऊपर के उद्धरणो से स्पष्ट है, वह यह है कि भारतीय नारी आज कितनी परवश और दुर्वल है। जहाँ इस देश का पुरुष पतन की आखिरी सीढी से भी नीचे खिसकता नजर आ रहा है, वहाँ नारी अपनी पवित्र दुर्बलता के वोझ से ही मरी जा रही है। उसके सामने आज दो ही मार्ग है या तो पतित और पशु वने पुरुष को अपना तन और मन अर्पित कर दे या जहर खा कर अपनी इह-लीला समाप्त कर दे। इसमे नारी का दोष ही क्या ? वकौल गाधीजी के हमने उसे वेवसी की

कुछ चुनी पुस्तकें

ऐतिहासिक उपन्यास

सिह सेनापति • राहुल साकृत्यायन • मूल्य ःः

भगवान् बुद्ध के समय वैशाली का वज्जी जनतत्र कितना ऐश्वर्यवा था, कितना आदर्श था, यह इसी एक बात से प्रगट है कि इस वज्जी राप के शासनतत्र के अनुसार बुद्ध ने अपने धर्मचक्र की रूपरेखा बाँधी थी सघ का शासनतत्र बज्जी शासनतत्र ही था। उसी गौरव प्राण जनतं के प्रसिद्ध सेनापति सिह की आत्मकथा। साथ मे अतीत भारत के अने एकतत्र और गणराष्ट्रो के गौरवचित्र। गाधार से लेकर बज्जी भू तक सारा उत्तर भारत इस ऐतिहासिक उपन्यास की पृष्ठ-भूमि है। सा है राहुल की औपन्यासिक कला।

जय यौधेय • राहुल सांकृत्यायन • मूल्य ४

'वोल्गा से गगा तक' प्रसिद्ध सास्कृतिक कहानी सग्रह की एक महत्व पूर्ण कहानी 'सुपर्ण यौधेय' के आधार पर राहुल का दूसरा ऐतिहासि उपन्यास। आज के जुझती तब यौधेय थे। इन जुझातियो के पूर्वज ने किस प्रकार गणतत्र के गौरव के लिए चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य जैसे प्रताप चक्रवर्ती से लोहा लिया, कैसे वे असफल होकर भी इतिहास मे अमर ह गये। प्राचीन भारत की गौरवगाथा। राहुल का दूसरा प्रसिद्ध ऐति-हासिक कथा-चित्र।

अम्वपाली • रामरतन भटनागर • मूल्य १॥

बौद्ध साहित्य की प्रसिद्ध भिक्षुणी वैशाली की परमसुन्दरी 'आम्र पालिका' की जीवन-कथा के आधार पर लिखा ऐतिहासिक उपन्यास तब बुद्ध जीवित थे और उनके महायत्र से कपिलवस्तु, राजगृह, सारनाथ और वज्जी देश गूँज रहे थे 'बुद्ध शरण गच्छामि, धर्म शरण गच्छामि सघ शरण गच्छामि'। २५०० वर्ष पहले के महान धर्म-परिवर्तन क सास्कृतिक चित्र। प्राचीन भारत की एक अमर कहानी को इतिहा और कथा के रस के साथ यहाँ पढिये।